ओ३म्

'वेदार्थ-कल्पद्रुम:'

'सरस्वती सह धीभिरस्तु'

ऋषीणां हृदयेष्वन्तः स्थितो भूताद्यनुग्रहात् ।
नित्यशब्दार्थसम्बन्धं ह्यनादिनिधनश्रुतिम् ॥१॥

प्राकाशयत् परब्रह्म, आदौ वेदचतुष्टयम् ।
काले काले यथाबुद्धि यद्भाष्यं रचितं बुधैः ॥२॥

भाष्येष्वपि परं केचिद्, निरुक्तादि-प्रदर्शिताम् ।
यौगिकीं पद्धतिं हित्वा, रूढिभाजोऽभवन् यदा ॥३॥

अदर्शयन् हि वेदेषु, इतिहासं च नश्वरम् ।
तदा दूषित-भाष्याणि, तदर्थं व्यधुरन्यथा ॥४॥

परो दयालुर्जन-शं-विधित्सया, श्रुति-प्रतिष्ठां पुनरुद्दिधीर्षुकः ।
ऋषिं दयानन्दसरस्वतीसुतं, प्रमोदलोकात् समनोदयद्धरिः ॥५॥

सुतार्किको दर्शनतत्त्वविज्ञः, सद्वेदराद्धान्तविवेकशीलः ।
समाययौ वैदिकधर्मवृद्ध्यै स्वामी दयानन्द-सरस्वतीऽड्चः ॥६॥

ऋषियों के हृदय में अन्तः स्थित परब्रह्म ने सृष्टि के आदि में प्राणियों पर अनुग्रहेच्छा से, नित्य शब्दार्थ सम्बन्धक, अनादिनिधन श्रवण वेद चतुष्ट्य का प्रकाश किया, जिनका भाष्य समय-समय पर यथामति विद्वानों ने किया ॥१-२॥

परन्तु भाष्य करने में कुछ लोग निरुक्तादि प्रदर्शित यौगिक पद्धति को छोड़कर जब रूढ़ि भाजी बन गये। तब वेदों में नश्वर इतिहास को दिखाते हुये दूषित-भाष्यों ने वेदार्थ को अन्यथा कर दिया ॥३-४॥

तब परम दयालु हरि ने जनकल्याण की विधित्सा से तथा वेदों की प्रतिष्ठा का पुनः उद्धरण करने की कामना से ऋषि दयानन्द सरस्वती रूपी सुत को स्वर्ग लोक से भूमि पर आने को प्रेरित किया ॥५॥

सुतार्किक दर्शन तत्त्वविद्, उत्तम वेदों के सिद्धान्तों के विवेचनशील, पूज्य स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक धर्म के वर्धन के लिये आये ॥६॥

ज्ञानोद्याने सुरभित-यशो-वेद-कल्पद्रुमस्य,
पुष्प-व्रातं विकसितमभूदार्षविज्ञानकल्पम् ।
प्रातर्घ्रातुं जनकभवनान्निर्गतोऽयं मिलिन्दो,
विद्वद्-वन्द्यो जयति भुवनेऽसौ दयानन्द-योगी ॥७॥

दयानन्दोऽकार्षीत् श्रुतिमयविपञ्चीं क्वणवतीम्,
मधुस्रावीं सन्तस्तदनुरसने मुग्धमनसः ।
अभूवन् सौभाग्यं सकलमनुमन्यन्त इह ते,
प्रशस्तां तत्-कीर्तिं सततमनुगायन्ति सदसि ॥८॥

परेऽसूया - वृत्ति - प्रहत - रस - संवेदमनसः,
रसं नो वीणाया जगृहुरमलोक्तिस्त्ववितथा ।
महिष्यग्रे वीणारणनमकरोत् साधकजनः,
परं सा रोमन्थं सततमभजत् मूढमनसा ॥९॥

महामेधाविनां श्रेष्ठो, ज्येष्ठो वै योगिनामपि ।
ब्रह्मचर्य-व्रतेनात्मा, यस्याभूत् पावनः परः ॥१०॥
यो वै वसुन्धरा-पुत्रान्, वियुक्तान् धर्म-कर्मणः ।
आयादिह समुद्धर्त्तुं, वेदज्ञानेन शर्मणा ॥११॥

ज्ञान के उद्यान में सुरभित यश वाले वेद-कल्पद्रुम के आर्ष विज्ञानरूपी पुष्पराशि को सूंघने के लिये अपने पितृभवन से विद्वद्-वन्दनीय-योगी दयानन्द रूपी मधुप जीवन के प्रातःकाल में निकला, उसका त्रिभुवन में जय-जयकार हो रहा है ॥६॥

योगी दयानन्द ने मधुस्रवण करने वाली श्रुति-वीणा को निनादित किया, सत्-पुरुष उनके अनुसरण में मुग्ध मन हो गये और अपना सौभाग्य मानकर सभाओं में ऋषिवर की प्रशस्त कीर्ति का अनवरत गान करने लगे ॥८॥

असूया-वृत्ति से प्रनष्टरस-संवेदनवृत्ति वाले अन्य लोग वेद-वीणा का रसास्वादन न कर सके । यह उक्ति सत्य ही सिद्ध हुई कि किसी साधक जन ने भैंस के आगे वीणा बजाई, पर वह मूढ जुगाली ही करती रही ॥९॥

जो ऋषि महामेधावियों में श्रेष्ठ, योगियों में ज्येष्ठ, ब्रह्मचर्य-व्रत से जिनका आत्मा परम पावन था, जो वसुन्धरा के धर्म-कर्म-रहित पुत्रों का कल्याणकारक वेद-ज्ञान से समुद्धार करने के लिये आये थे ॥१०-११॥

धन्यं यशः-सुरभितं विमलं कुलन्ते,
धन्यः पिता गुणवती जननी च धन्या ।
धन्या च गौरववती खलु जन्म - भूमिः,
त्वद्-वर्त्मनोऽनुगमने वयमत्र धन्याः ॥१२॥

धन्या अपीड्यमुनयः सुनयस्तु येषां,
भूयस्त्वया सुमनसा तपसोद्धृतो वै ।
सा शारदा श्रुतिमयी सुतरान्नु धन्या,
याऽसूत पूतचरितं सुतमद्वितीयम् ॥१३॥

अमन्दसंविन्मकरन्द-माधुरीं, प्रदाय विद्वन्मधुपाय निर्भरम् ।
वसुन्धरोद्यानममुञ्चदञ्चितं सुमं प्रतस्थे तु दिवालयं प्रति ॥१४॥

सुब्रह्मचर्य-व्रत-पावितात्मना, अगादि तेनेयमृगादि-भूमिका ।
सत्यप्रकाशो विहितस्तदाऽनया, सुवेदमार्गानुगम-प्रवर्त्तनः ॥१५॥

विद्वज्जनैः शुभ - विचारक - धर्मशीलैः,
निष्पक्षदृग्भिरनिशं भृशमीड्यमानैः ।
राद्धान्तकैर्विजयते ननु भूमिकेयम्,
श्रीमद्दया - प्रथम - नन्दकृतिर्वरेण्या ॥१६॥

हे ऋषे ! तुम्हारा यश-सुरभित विमल-कुल, पिता, गुणवती जननी और यह गौरवमयी जन्म-भूमि धन्य है, तुम्हारे सन्मार्ग का अनुगमन करने वाले हम लोग भी धन्य हैं ॥१२॥

स्तुत्य-मुनि-वर्ग धन्य हैं, जिनकी सुनीति का ऋषिवर तुमने उद्धार किया, वह श्रुति शारदा भी धन्य है, जिसने तुम जैसा अनुपम पूत चरित सुत उत्पन्न किया ॥१३॥

वह (ऋषि) वसुन्धरा उद्यान का पूजित सुमन, अमन्द ज्ञान की मकरन्द माधुरी को विद्वत् मधुपों को पिलाकर स्वर्गलोक को चला गया ॥१४॥

उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत से पवित्रात्मा उन्होंने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका बनाई, तब इसके द्वारा उत्तम वेद मार्गानुगमन का प्रेरक सत्य प्रकाश सब ओर फैल गया । शुभविचारक धर्मशील निष्पक्षदृग् विद्वज्जनों के द्वारा निरन्तर अत्यन्त प्रशंसित, स्तुत्य सिद्धान्तों से विभूषित, श्री मद्दयानन्द ऋषि की यह वरेण्यकृति 'भूमिका' सर्वत्र विजय-शीला है ॥१५-१६॥

पदं दधौ वै सुमना मनस्विनां मनःसु नो नाम चकार सुध्रुवम् ।
लभेत ना मानसवल्लभं कथं, त्यजेत् कथं वा समवाप्य दुर्लभम् ॥१७॥
अकण्टकं सङ्कटमेव कण्टकं, परं स्वराज्यं प्रतनोति साम्प्रतम् ।
कुतर्क-वाचा-दशनाग्रसूचिभिस्तुदत्यलं मानसपल्लवं भुवि ॥१८॥
अनर्गलं यो नितरां प्रभाषते, शुभार्य-संस्कृत्यतुल-प्रणाशकः ।
अतीत-काले नहि भूत ईदृशो न भावि-काले ह्यपरो भविष्यति ॥१९॥
अपार आसीन् मनसि प्रतिष्ठितः, सुमानभावः सुरगीर्विदस्तव ।
परं दयानन्द-मुनिं प्रति त्वया प्रयोजितं दम्भ-विजृम्भितं वचः ।२०॥
अलोपयत्त गरिमाणमाशु मे सुमानभावं स्थविरस्य साम्प्रतम् ।
असूययाऽऽवर्तित-गालि-राशिदा, प्रवृत्तिरेषा न गरीयसी तव ॥२१॥
कुग्रन्थ-कुम्भ-परिपूर्ण-कुतर्क-जालाम्भःपात्रहस्तमनुजाश्छलसाधुवेशे ।
सद्वदिकेन्धन-समिद्ध-हुताशनं तम्, आर्षं प्रशामयितुमाययुरासमन्तात्।२२।

उस सुमन ने हम मनस्वियों के मानस में अपना अमर नाम और ध्रुव-स्थान बना लिया है, भला मनुष्य ऐसे मनोरम प्रिय को कैसे पा सकता है ? और कदाचित् इस दुर्लभ को प्राप्त कर कैसे छोड़ सकता है ॥१७॥

परन्तु कांटों ने अपना निष्कण्टक सङ्कट पूण राज्यविस्तार अब प्रारम्भ कर दिया है, जो कुतर्क वाणी की दशनाग्र सूचियों (सुइयों) से भूमण्डल पर सबके मानस (पद्+लव) पल्लवों को छेद-छेद कर व्यथित कर रहा है। जो शुभ आर्य संस्कृति का अतुलनीय विनाशक होकर अनर्गल भाषण कर रहा है, ऐसा कण्टक न भूतो न भविष्यति' ॥१८-१९॥

हे करपात्रिन् ! संस्कृत वाणी विद् होने के कारण मेरे हृदय में आपके प्रति अपार सम्मान भाव था; परन्तु मुनिवर दयानन्द के प्रति आपने जो दम्भ-विजृम्भित वचनों का प्रयोग किया है, उसने अब वृद्ध-प्रवर आपके प्रति मानभाव को आपकी गरिमा के साथ-साथ विलुप्त कर दिया है, असूया से ऋषियों को गालिराशि देने वाली आपकी यह प्रवृत्ति (छिछोड़ी है) गरिमा-मयी नहीं है ॥२०-२१॥

कुग्रन्थ रूपी कुम्भ में परिपूर्ण कुतर्क जालरूपी जल पात्र कर में लिये हुये मनुष्य, छल साधुवेश में, उत्तम वैदिक सिद्धान्तों के ईंधन से प्रदीप्त यज्ञाग्नि को बुझाने के लिये सब ओर से आये ॥२२॥

किन्त्वत्र विस्मयमयी घटना समेषां
वैश्वानरोऽयममरो ननु दिव्य एव ।
योऽनारतं सलिलराशि - निपातनेन,
उज्ज्वाल - माल इतरोऽधिकमुद्दिदीपे ॥२३॥
विद्याऽनुरागशुभवृत्तिविशुद्धचित्ताः, उत्कृष्टहर्षमपि जग्मुरिवाम्बरे च ।
उद्यन्तमिन्दुमवलोक्यचकोरवृन्दं, विद्वांस एवमृषिवर्यमतं प्रशस्तम् ॥२४॥
सत्यात् पराङ्मुखजनो ह्युदरम्भरिर्वा,
मिथ्यामत-भ्रमिकुचक्रनिपातबुद्धिः ।
वेद-प्रकाशपरिलोपनयत्नशीलो
द्वेष्टीन्दुभां समुदितान्तु यथा हि चौरः ॥२५॥
मस्तिष्कं श्रुतिविप्रियैरनुदिनं छन्नं पुराणैर्नवैः,
रागद्वेषपरीतमस्ति हृदयं सन्मानवद्वेषि च ।
गालीभिर्लसिताधरः करयुगं दुष्कृत्यकारि द्रुतम्,
यस्याङ्घ्रिद्वयमाशु निन्दनपथं प्राप्नोति कोऽयन्नरः ? ॥२६॥
सत्यस्य ग्रहणेऽप्युदारमनसाऽसत्यस्य हाने मुदा,
येषां वृत्तिरनारतं समुदिता ते वन्दनीया जनाः ।

किन्तु यह वैश्वानर अमर एवं दिव्य ही निकला, जो निरन्तर (कुतर्की) जलराशि डालने से और प्रचण्ड होता गया, यह सबको आश्चर्य में डालने वाली घटना थी ॥२३॥

विद्यानुरागी विशुद्ध हृदय विद्वान् ऋषिवर्य के प्रशस्त सिद्धान्त देखकर ऐसे ही परम प्रसन्न हुये जैसे चकोर वृन्द अम्बर में उदय होते हुये पूर्ण चन्द्र को देखकर प्रसन्न होता है ॥२४॥

सत्य से पराङ्मुख उदरम्भरि, मिथ्या मत भ्रम के कुचक्र में पड़ी बुद्धि से लोग, ऋषि दयानन्द कृत वेदप्रकाश के परिलोपन में यत्नशील हो द्वेष करने लगे, जैसे समुदित चाँदनी से चोर द्वेष करता है ॥२५॥

जिनका मन श्रुतिविरोधी नवीन पुराणों से प्रतिदिन आच्छन्न है, हृदय सज्जन-द्वेषी और रागद्वेष से परिपूर्ण है। जिनके अधर गालियों से सुशोभित हैं, युगलकर शीघ्र दुष्कृत्यकारी हैं, तथा जिनके चरणद्वय निन्दा के पथ पर तीव्रता से चल रहे हैं, यह मनुष्य कौन है ? ॥२६॥

उदार मन से सत्य के ग्रहण करने और प्रसन्नता से असत्य के छोड़ने में जिनकी वृत्ति समुदित है, वे जन वन्दनीय हैं। दीर्घकाल से जो कुमतिपूर्ण पङ्क

दीर्घनिद्रस एव ये कुमतिभृत्-पङ्के निमग्ना इह,
दुर्निर्बन्धनिबन्धनान्धितधियो ध्यायन्ति नो सत्पथम् ॥२७॥
भूमिका - दृढसिद्धान्त-प्रासादं तु कुचेष्टया।
मृषारोपखनित्रेण खातुं प्रायतताऽबुधः ॥२८॥
परं कुतर्कसिक्थेन, अयोभासेन निर्मितम्।
खनित्रं निष्फलं तद्वत् करपात्रिमतिश्रमः ॥२९॥
नो भूमिकां दूषयितुं क्षमेत, असूययाऽऽरोपितदोषराशिः।
गङ्गाप्रवाहं न रुणद्धि जातु, कदाऽपि शैवाल-विशालजालम् ॥३०॥
तृणरचितकुटीरे संस्थितोऽदूरदृष्टिः,
ज्वलदनलमनल्पाङ्गारमामन्त्रयद् वै।
क्षिपति निचितकाचे संश्रितःशैलखण्डान्,
सुदृढसदनसंस्थस्योपरिष्टात् कुबुद्धिः ॥३१॥
रक्तं पिबेन्न च पयो हि पयोधरेऽपि,
लग्ना स्वभाववशतो यदि सा जलौका।

में निमग्न हैं, वे दुराग्रह-निबन्धन से अन्ध-बुद्धि होकर सन्मार्ग का ध्यान नहीं रखते ॥२७॥

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के दृढ़ सिद्धान्त-प्रासाद को, अपनी बुरी चेष्टा से झूठे आरोप-रूपी फावड़ों से खोद डालने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे अज्ञानी हैं। लौहवदाभासित कुतर्क रूप मोम से निर्मित फावड़े का फल जिस प्रकार निष्फल हो जाता है, उसी प्रकार श्री करपात्री महोदय का मतिश्रम भी निष्फल है ॥२८-२९॥

असूया से आरोपित आपकी दोषराशि निर्दोष भूमिका को दूषित नहीं कर सकती, क्या कभी शैवाल-विशाल-जाल, गङ्गा के सन्तत प्रवाह को रोक सकता है? नहीं ॥३०॥

जैसे तृण रचित कुटीर में स्थित अदूरदृष्टि, जलते हुये अनल्प अङ्गारों का आमन्त्रण कर रहा है, अथवा सुदृढ़ सदन में स्थित व्यक्ति के ऊपर कोई कुबुद्धि काच-निर्मित घर में बैठ कर पाषाण के खण्डों को फेंक रहा है। (उसी प्रकार प्रमाण, युक्ति, तर्क-समन्वित भूमिका पर पुराणनिष्ठ आपके कुतर्क प्रहार हैं) ॥३१॥

जैसे स्तन पर लगी जोंक अपने स्वभाववश दूध न पीकर रक्त पीती है,

एवं न पश्यति खलो, गुणिनां गुणानां,
ग्रामं तृणेन तुलितं, ह्यगुणं चिनोति ॥३२॥
कश्चिद् ग्रामटिकाजनं सुनिपुणः प्रादर्शयद् गान्धिकः,
पौष्पं तैलमसावतीव मधुरं प्राचम्य शस्तिं व्यधात्।
घ्राणायार्पितमेव हाऽऽचमदिदं तद्वद् भवान् राजते,
कण्ठालङ्कृतये सुभाष्य-सुरभि-स्रक् सा त्वया खण्ड्यते ॥३३॥
सद्यः खण्डनमेव कर्त्तुमवदद्योऽयं 'कणेहत्य' च,
ऋग्वेदादिक भूमिकां-कृतिमिमां सत्यामसूयावशात्।
यातो गोमयकीट इन्द्रविपिनं कल्पद्रुमाऽऽमोदितम्,
विड्वद्घ्राणपुटस्तु सौरभमहो दुर्गन्धमामन्यते ॥३४॥
ज्ञातुं शक्त शास्त्रविद्यां मनुष्यः, आर्षग्रन्थस्याऽनुशीलेन नित्यम्।
नो वाऽनार्षग्रन्थपाठाऽनुघोषी, मेधाशून्योऽसूयकः कश्चिदेव ॥३५॥
पौराणिका ऋषिविनिर्मितदर्शनानां,
वैशेष्यबोधनमवाप्तुमशक्नुवन्तः।
तस्मात् परस्परविरोधमुदीरयन्ति,
निष्कोषतां वत गताऽस्ति मतिस्तदीया ॥३६॥

उसी प्रकार खल-वृत्ति पुरुष गुणियों के गुण-समूह को न देखकर, तृणवत् अगुण को ही चुनता है ॥३२॥

किसी निपुण (इत्र विक्रेता) ने किसी गौंटिया वासी जन को सूंघने के लिये इत्र दिया, उसने आचमन करके माधुर्य की प्रशंसा की। उसी प्रकार आपके कण्ठाभरण के लिये सुभाष्य-सुरभित-भूमिका की माला प्रदान की गई, परन्तु आप उसके खण्ड-२ कर फेंकने लगे॥ आपने असूयावश पृ० ४८३ पर कणेहत्य खण्ड्यते लिखकर ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के केवल खण्डन करने की प्रतिज्ञा की है, आपको इसमें कहीं एक भी गुण नहीं सूझा। ठीक भी है गुड़वीला गोबर को अपनी नाक में रखकर कल्पद्रुम से सुगन्धित नन्दन वन में भी सौरभ को गोबर की दुर्गन्ध ही समझता है ॥३३-३४॥

आर्ष ग्रन्थों के नित्य अनुशीलन करने से ही मनुष्य वेद रहस्य को समझने में समर्थ हो सकता है, मेधाशून्य होकर अनार्ष ग्रन्थों के पढ़ने और घोखने वाले गुणों में दोषदर्शी (करपात्र) नहीं समझ सकते॥

अत एव ऋषि विनिर्मित दर्शन ज्ञान में अशक्त पौराणिक, परस्पर विरोधी

शास्त्रार्थ-मोषको निन्देद् दयानन्दं सदर्थिनम् ।
कीदृग्विपर्ययश्चौरः कोटपालं च भर्त्सयेत् ॥३७॥
दयानन्दर्षिलेखेष शास्त्रप्रामाणिकेष्वपि ।
धाष्ट्र्येनारोपयद् दोषान्, करपात्रस्त्वसूयकः ॥३८॥
विद्याविज्ञानशून्याश्च पौराणिकप्रकल्पिताः ।
गाथा ग्राश्रित्य वेदार्था दूषिताः करपात्रिणा ॥३९॥
सृष्टिक्रमविरुद्धाश्च मृषाढ्याः कल्पिता गिराः ।
परस्पर-विरुद्धास्तु वेदशास्त्राऽप्रमाणिताः ॥४०॥
वेदार्थपारिजातस्य, प्रसङ्गाः दम्भजृम्भिताः ।
मिथ्याक्षेपक - विद्वेष-पूर्ण-पाखण्डमण्डिताः ॥४१॥
वेदा वै ब्राह्मण-ग्रन्था, वेदा न प्रभुनिर्मिताः ।
वेद-शब्दाः ग्रनित्या हि, कार्यत्वादितिमन्यते ॥४२॥
पदन्यायान्यशास्त्राणां रहस्यं ह्यन्यथाब्रुवन् ।
भूमिका-भाष्य-खण्डस्य, साहसं दर्शयत्यहो ॥४३॥

बातें (जैसी वेदार्थ-पारिजात में कही है।) कहा करते हैं ! वस्तुतः उनकी बुद्धि का दिवाला पिट गया ॥३५-३६॥

शास्त्रों के ग्रर्थ-चौर लोग उत्तम ग्रर्थ वाले ऋषि दयानन्द की निन्दा करते हैं उनपर यही कहावत घटती है कि 'उल्टा चोर, कोतवाल को डांटे ।" शास्त्र-प्रामाणिक दयानन्दर्षि के लेखों 'में' भी ग्रसूयक करपात्री जी ने "धाष्ट्र्य ग्रादि दुर्वचन कहकर दोषों का ग्रारोप किया है ॥३७-३८॥

विद्या विज्ञान से शून्य, पौराणिक कल्पित नश्वर गाथा (कहानिग्रों) का ग्राश्रय लेकर श्री करपात्री जी ने वेदार्थों को दूषित कर दिया ॥३९॥

वे गाथायें सृष्टिक्रम विरुद्ध, मिथ्यात्व से प्रौढ़, वेदशास्त्रों से ग्रप्रमाणित, परस्पर विरुद्ध कल्पित हैं ॥ वेदार्थ-पारिजात के प्रसङ्ग ग्रसूयावृत्ति से निन्दित, मिथ्याक्षेप, द्वेष, दम्भ ग्रौर पाखण्ड से मढे हुये हैं ॥४०-४१॥

करपात्री जी कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद हैं ग्रौर वेद ईश्वर रचित नहीं है। तथा कार्य होने से वेद शब्द ग्रनित्य हैं ॥४२॥

व्याकरण, न्याय तथा ग्रन्य शास्त्रों की ग्रन्यथा व्याख्या करते हुये ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का खण्डन इनके द्वारा करना दुःसाहसमात्र एवम् ग्राश्चर्यजनक है ॥४३॥

सत्यमर्थं लुचित्वा वै वचित्वा क्व नु यास्यसि ?
कुकृत्यकृद् गृहीतोऽस्ति करपात्र-करो मया ॥४४॥
वेदार्थ-पारिजातस्य, दुन्दभेस्तु महारवम् ।
श्रुत्वाऽसारं प्रविश्यान्त ज्ञातः पोलः कपोलयोः ॥४५॥
धन्यः परस्पर - विरुद्धविलेखने यः
प्रावीण्यमाप्त इव पुण्य - जनाग्रगण्यः ।
शास्त्राऽप्रमाणितमिदं खलु खण्डनन्ते
आस्यं यदस्ति दशहस्तमिताऽभयेयम् ॥४६॥
रचितवान् करपात्र-महोदयः, ऋषिवरस्य सुभाष्य-विखण्डनम् ।
इदमनल्प-कुकल्पन-गलिपता-जनित-जल्प-सुकल्पतरो-फलम् ॥४७॥
वेदार्थ-पारिजातस्य वैतण्डिकविनिर्मितेः ।
सप्रमाणमदोऽकारि, मया पाषण्डखण्डनम् ॥४८॥
गोत्रे भार्गववत्सजे सुविदिते मिश्रेत्युपाह्वकुले,
वैद्य-ज्यौतिष-शब्दशास्त्र कुशलः श्री हेमराजात्मजः ।

सत्य को नष्ट कर वञ्चना कर, ग्रब तुम कहाँ जा रहे हो, ठहरो ! खण्डन का कुकृत्य करने वाला तुम्हारा हाथ मैंने पकड़ लिया है ।४४॥

वेदार्थ-पारिजात-ढोल का महाशब्द सुनकर ज्ञात हुग्रा कि यह कपोलों का पोल (समूह) निःसार मात्र है ॥४५॥

खेद है, पुण्यजनों में ग्रग्रगण्य होकर ग्रपने परस्पर विरुद्ध लेखन में प्रावीण्य प्राप्त कर तुम धन्य हो । तुम्हारा ऋषि की भूमिका का खण्डन शास्त्र विरुद्ध है, वैसे मुख है, ग्रतः कहते रहिये कि हर्र दश हाथ की होती है। करपात्र महोदय ने ऋषि के उत्तम भाष्य का भी खण्डन किया है, यह उनकी ग्रपार कुकल्पना के गल्पजनित कल्पतरु का ही फल है ॥४६-४७॥

वितण्डावाददक्ष की रचनारूप वेदार्थ-पारिजात के पाखण्ड का खण्डन मैंने सप्रमाण किया है ॥४८॥

सुविदित वत्स (भार्गव) गोत्र, मिश्र उपाह्व कुल, वैद्यक, ज्योतिष, शब्द शास्त्र में कुशल श्री प० हेमराज मिश्रात्मज, प्राणि हितकारक, विप्रप्रवर श्री प० ग्रयोध्या प्रसाद मिश्र 'वैद्यराज' सुधी एवम् ललिता माता के संस्कारों से संवर्धित विशुद्धानन्द नामक हूं। यथा नाम तथा गुण 'निर्मलामिश्रा मेरी ग्रर्धाङ्गिनी हैं जो साहित्याम्बुधि पर विचरण शीला हैं। वेद शास्त्रों के मर्मज्ञ

विप्रोऽविप्रियकारको जनिजुषो ऽयोध्याप्रसादः सुधीः,
तत्सूनुर्ललिताऽभिधान-जननी, -संस्कार - संवर्धितः ॥४६॥
आनन्दान्तविशुद्ध नामक इयं चार्धाङ्गिनी 'निर्मला',
साहित्याम्बुधिपारगा श्रुति-परा पौराणसिद्धान्तगा ।
वेदान्तज्ञविहारिलाल गुरवो, यं दीक्षितं संव्यधुः,
सोऽहं वेदसु-भाष्यभूमिरचना-शङ्का-समाधिं दधे ॥५०॥
यद्बाला अपि सेवकैः सह सदा, स्वां मातृभाषामिव,
भाषन्ते खलु सेवका अपि तथा, प्रत्युत्तरन्तो मुदा ।
पत्नी यस्य च 'निर्मला' सुरगिरामाश्रित्य संशोभते,
तेन ध्यात-समस्तशास्त्रमतिना, त्वत्खण्डनं खण्ड्यते ॥५१॥
विश्राम्येत् खलु पण्डितः शिववरः, श्री वैद्यनाथः सुधीः,
शास्त्रारण्य-विहारिणी गुरुवर, श्रीमद्-विहारि-प्रभा ।
नो वृद्धोऽमरसिंह एष शतशः, शास्त्रार्थकृत् श्राम्यतु,
मीमांसाविदयं युधिष्ठिर-सुधी, र्नो चेष्टतां साम्प्रतम् ॥५२॥
सानन्दास्तु 'विवेक' शुद्धमतयः तिष्ठन्तु संन्यासिनः,
विद्वन्मण्डलमण्डनाः विदधतां 'वीरा' न वै चिन्तनाम् ।
पाषाणप्रतिमार्चनार्पितमति-श्री 'पाणि-पात्र'-प्रति,—
द्विड्दन्तावल-दीर्घ-दर्प-दलने, सिद्धो विशुद्धो हरिः ॥५३॥

बाणी-भूषण श्री पं० बिहारी लाल जी शास्त्री गुरुवर ने मुझे दीक्षा दी है, मैं ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका पर उठाई शङ्काओं का समाधान कर रहा हूं। जिनके बालक भी मातृभाषा अमरवाणी संस्कृत में सेवकों के साथ वार्त्तालाप करते हैं और प्रसन्नतया सेवक भी संस्कृत में ही उत्तर देते हैं। जिनकी पत्नी निर्मला देवी पण्डिता हैं, वह मैं आपके खण्डन का खण्डन कर रहा हूं ॥४६-५१॥

विद्वद्वर शिवकुमार शास्त्री तथा पण्डित वैद्यनाथ जी भी दूर बैठे रहें, शास्त्रारण्य विहारिणी गुरुवर की प्रतिभा और शास्त्रार्थ-महारथी श्री अमर स्वामीजी भी श्रम न करें तथा मीमांसक प० युधिष्ठर भी अब कष्ट न करें ॥५२॥

विद्वन्मण्डल मंडल श्री उदय वीर जी शास्त्री तथा श्री १०८ स्वामी विवेकानन्द सकस्वती निश्चिन्त होकर विश्राम करें, पाषाण-प्रतिमार्चन में अर्पित मति प्रतिद्वन्द्वी श्री करपात्री रूपी हाथी के दीर्घ दर्प दलन करने में यह विशुद्धानन्द केसरी सर्वथा सिद्ध है ॥५३॥

क्वाऽप्यन्यतस्त्वमपयाहि पुराण-वन्य—
स्थानान्नहि श्रुतिमितस्त उदन्त एषः ।
आखेटिनोऽवट - महीधर - मस्तकेषु,
सिंहस्य चास्य करपात्र विहारभूमिः ॥५४॥
सीदन्तमद्य दुरिताङ्क पुराणपङ्के,
त्वां नो हनिष्यति हरिः श्रितवेदमार्गः ।
योऽहिंसकोऽवति च विष्णुरथोऽविरामम्,
सिंहस्य चास्य करपात्र-विहार-भूमिः ॥५५॥
आवां साधु समध्यगीष्वहि समां, ग्रन्थे समालोचनाम्,
आर्ष-प्रातिभविक्रियाऽनृतवचः-पुष्टि-प्रदां क्लेशदाम् ।
दुर्भावग्रसनाद् विलोपित - मतेस्तल्लेखकस्याऽधुना,
निस्संदिग्धमखर्व-गर्वगलना, सञ्जायतान्तन्मतिः ॥५६॥
वेदार्थे पारिजातो नहि भवति तदा, ग्रन्थकोऽयं गरिम्णा,
गालीदान-प्रवीणः प्रथयति सुतरां स्वामभिख्यां यदाऽयम् ।
वेदार्थे बब्बुलोऽयं श्रुति - विषय - समन्वेषणा-दत्तधीनाम्,
मार्गं नैसर्गिकं यो विमल-मति-मतां, कष्टकैः संरुणद्धि ॥५७॥

पुराणरूपी वनस्थली से हे (आस्य करप) हस्तिन्। तुम कहीं अन्यत्र चले जाओ। यह (श्रुतिगत उदन्त :—वेद सन्देश है) समाचार क्या किसी (शिकारी) के द्वारा तुम्हारे कानों तक नही आ पाया है कि खाड़ी (गर्त) और महीधर मस्तकों पर (उवट और महीधर भाष्यकार) इस सिंह की क्रीड़ा भूमि है ॥५४॥ अगाध पापाङ्क पुराण पङ्क में फंसे हुये दुःखित तुमको, वेदमार्ग गामी अहिंसक यह हरि अब नहीं मारेगा (यो विष्णुरथोगरुडः सः अहिर्भवति साम्प्रतम्—यह गरूड भी अब सर्प की भी रक्षा करने लगा, है) पर हे हस्तिन्! यह स्मरण रखो कि यह उसी सिंह की क्रीड़ास्थली है, अतः तुम यहां स्वच्छन्द न विचरो॥ हम दोनों (पति+पत्नी) ने आर्ष प्रतिभा की विक्रिया स्वरूप अनृत वचनों से सुपुष्ट इस ग्रन्थ में समालोचना को सम्यक् पढ़ा है, दुर्भावग्रस्त, लुप्त विचार शक्ति लेखन के ही अखर्व गर्व का गलन निश्चित ही हो जायेगा ॥५६॥

वेद-ग्रथे-पारिजात तो इस ग्रंथ को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह गरिमा रहित है और गालिदान में प्रशस्त है, इसे वेदार्थ बबूल अवश्य कहा जा सकता है, क्योंकि यह श्रुति विषयों का अवगाहन करने वाले विमल बुद्धि-लोगों के सरल मार्ग को भी अपने वाग्जाल के कांटों से रोकता है ॥५७॥

दुर्वाचां संब्रुवाणः प्रतिपदमभितः साधुवेशः क एषः ?
वाग्जाल-व्याज-जृम्भा-निगलित-निखिल-व्यक्त-सत्य-प्रकाशः ।
सत्यार्थस्य प्रकाशे ह्युदयति गगने सूर्य-बिम्बाभिरामे,
सत्यज्योति-र्नितान्तं रजनि-दिवसयोः को विरुन्धे दिवान्धः ॥५८॥

केचिद्बुद्धिविरोधिनो गुण-गण-ग्राहाक्षमा द्वेषिणः,
संसारोपकृतिप्रदत्त-सकल-स्वान्तर्बुधां योगिनाम् ।
सत्कार्येष्वपि मत्सर-ग्रसनतश्चिन्वन्ति दोषानिह,
तेभ्योऽसूयन-वृत्ति-दूषित-मनो - वाग्भ्यो नरेभ्यो नमः । ५९॥

महीधराद्याः निगमार्थ-दूषणे, अवापुराशां च परां कुवृत्तयः,
तदर्थमालक्ष्य विदेशिनो जगुः इमाः श्रुतीः मेषपतिप्रगीतिकाः ॥६०॥

समस्त-सन्देहविभञ्जनो मुनिस्तदा स्वभाष्यं प्रणिनाय दोषहृत्,
परं स्वदेशीय-नराः पदे-पदे, प्ररूढिभाजः प्रतिरोधमाचरन् ॥६१॥

दुराग्रह-ग्रस्त-मनोजनो मुधा, प्रवीक्षते वन्द्यमहर्षि-निर्मिताम् ।
ऋगादिभाष्य-प्रतिबद्ध-भूमिकामनेक - दोषैर्निचितामसूयया ॥६२॥

वाग्जाल व्याजकी जम्हाई लेकर समस्त व्यक्त सत्य के प्रकाश को निगलने वाला प्रत्येक पद पर (धाष्ट्र्य आदि) दुर्वचनों का प्रयोग करता हुआ साधु के वेश में यह कौन है ? हाँ समझ लिया कि सूर्य विम्ब के समान अभिराम सत्यार्थ-प्रकाश के उदित होने पर रात और दिन सत्य के प्रकाश को, यह कौन दिन का द्वेषी अबोधान्धकार से प्रेम करने वाला अन्धा है, जो रोक रहा है । ॥५८॥ कतिपय बुद्धि विरोधी, गुण-गणों के ग्रहण करने में अक्षम द्वेषीजन, संसार के उपकार में अपना सर्वस्वार्पण करने वाले विद्वान् योगियों (ऋषि-दयानन्द सदृश) के उत्तम कार्यों में भी डाह से ग्रस्त होकर दोषों को ही खोजा करते हैं, ऐसे उन असूया-वृत्ति-दूषित मानस मन वाणी वाले मनुष्यों को नमस्कार है ॥५९॥

कुवृत्ति महीधर आदि ने वेदों की निन्दा करने में पराकाष्ठा प्राप्त की थी उनके भाष्यों को देखकर विदेशी लोग 'वेद गड़रियों के गीत हैं, ऐसा कहने लगे ॥॥६०॥

तब मुनिवर दयानन्द ने वेदों का समस्त सन्देह विभञ्जक निर्दोष भाष्य लिखा, परन्तु रूढ़िग्रस्त स्वदेशी जन भी ऋषि के भाष्य का पद पद पर विरोध करने लगे ॥६१॥ पूर्वाग्रह-दुराग्रहग्रस्त जन, वन्दनीय-महर्षि निर्मितऋग्वेदादि भाष्य भूमिका को असूया वृत्ति के कारण अनेक दोष वाला देखते हैं ॥ परन्तु जो निर्बन्ध-

अमत्सरो द्वेष-विमुक्त-सन्मतिः, निरस्त-निर्बन्धशुचि-प्रवृत्तिकः ।
अपूर्वभाष्यं मनुते, महीधर-प्रणीतमश्लीलमथो विमुञ्चति ॥६३॥

समूलमुन्मूलयितुं श्रुतिद्विषः, कुभावनाः सत्यमना दयानिधिः ।
स्वजीवनस्याहुतिमप्यसौ ददौ, सदध्वरे प्राणिसमष्टि-भूतये ॥६४॥

पुनर्महर्षिः शुचिवेद-गौरवं दुराग्रहाऽग्रस्तमनःस्वसाधयत् ।
स्वतःप्रमाणत्वमघोषयत् परं, सतां द्विषन्तः कतिचित्तथाप्यहो ॥६५॥

चित्रंत्वन्मतिपात्रक विरचितं, ध्यात्वा च किं वेधसा ?
पक्वं यद्द्धि पुराण-कुम्भ-पचने, भ्राष्ट्रे भ्रमेद्धेन्धनैः ।
यावद्ध्वंसमवाप्नुयान्न 'विमलं', कृत्वा तु तावद, यते!
रिक्तं तत् करपात्र ! पूरय पयोभिश्चाप्तदृक्-सम्मतैः ॥६६॥

कल्पद्रुमस्य सुरगीः - परिषिञ्चितस्य,
छाया सुभावभरिता जनयेत् सुखं शम् ।
हिन्दीज्ञ-निर्मलमनोनरपुङ्गवेभ्यः,
रूपान्तरं तु विदधाति हि 'निर्मलेयम् ॥६७॥

रहित, पवित्र प्रकृति के मत्सर रहित-द्वेषमुक्त सत्पुरुष हैं, वे इस भाष्य को अपूर्व मानते हैं, इसलिए महीधर के अश्लील और असभ्य भाष्य को त्याग देते हैं ॥ ६२-६३ ॥

सत्य सङ्कल्प वाले दयानिधि दयानन्द ने वेदद्वेषी कुभावनाओं का समूल उन्मूलन करने के लिए, प्राणियों के कल्याण साधन के लिए इस पवित्र यज्ञ में अपने प्राणों की भी आहुति दे दी । तब महर्षि ने सत् पुरुषों के दुराग्रह रहित मनों में पवित्र वेद के गौरव की पुनः स्थापना की और वेदों का स्वतः प्रमाणत्व घोषित किया, दुःख की बात है कि फिर भी कतिपय लोग द्वेष ही कर रहे हैं ॥६४-६५॥

हे कर-पात्र महोदय । सर्वज्ञ ब्रह्मा ने आपके मतिपात्र की क्या ही-विचित्र रचना की है ? जोकि पुराण कुंम्भों के पकाने वाले भाड़ (आंवा) में भ्रम के दीप्त ईंधन से पकाया गया है, हे विचारशील ! जब तक इसका ध्वंस न हो, तब तक इस मतिपात्र को विमल करके, रिक्त पात्र को आप्त दृष्टा ऋषियों के सिद्धान्तरूपी जलों से परिपूर्ण कर लीजिये ॥६६॥

यह वेदार्थ कल्पद्रुम सुरवाणी से मूलतः परिषिञ्चित है, इसकी उत्तम भावमयी छाया हिन्दी जानने वाले निर्मल मनों के लिये भी सुख और कल्याण-कारी बन सके । इस विचार से श्रीमती निर्मला देवी ने इस ग्रन्थ का रूपान्तर किया है ॥६७॥

नो साधनं हि विपुलं व्यथितो रुजाऽपि,
स्वास्थ्यं निरीक्ष्य बहुशोऽपि निवार्यमाणः।
ग्रन्थ-प्रयुक्तमपशब्द - ततिं निशम्य,
शङ्का-समाधि-करणाय समुद्यतोऽहम् ॥६८॥
तत्रापि काचिदवशिष्यत एव शङ्का,
शास्त्रार्थ-वाद-करणाय च खर्जनं स्यात्।
सन्नद्ध - मेव नितरामपनोदनाय,
जानीहि मान्नु करपात्र यते ! सदैव ॥६९॥
यद्यस्ति प्रतिभा प्रभा-विलसिता, चाह्वानमेतन्मम,
अङ्कीकृत्य समाश्रयन्तु शरणं शास्त्रार्थ-मञ्चाञ्चनम्।
नोचेत् शक्तिरिहाद्य सन्मुनि-दयानन्दस्य राद्धान्तकान्,
स्वीकृत्यार्य-समाज-साधित-धिया कुर्वन्तु भू-मङ्गलम् ॥७०॥
स्वान्तर्नीड-प्रशान्त-स्थित-जन-विहगान् दुर्मतैश्चञ्चुघातैः
भूयो वा खेदयन्तः कुमति-निशि भृशं घूघुकार-प्रघोषैः।
रे घूकाः। सन्तु मूकाः उदयति गगने श्रीदयानन्द-सूर्ये,
वेदानां भूमिकायाः प्रसरति परितः सुप्रभात-प्रकाशः ॥७१॥

मेरे पास विपुल साधन भी नहीं और रोग से भी व्यथित हूं, मेरे अस्वास्थ्य को देखकर श्रीमती निर्मला देवी ने मुझे अतिश्रम करने से बहुशः रोका, परन्तु वेदार्थ-पारिजात की ऋषि के प्रति प्रयुक्त अपशब्दावलि को सुनकर तथा विवश होकर करपात्री जी की शङ्काओं का समाधान करने का निश्चय कर लिया ॥६८॥

इस पर भी कोई शंका अवशिष्ट रह गई हो और शास्त्रार्थ वाद करने की खुजली मच रही हो, तो उसके मिटाने के लिए मुझे आप सवदा सन्नद्ध जानिये।६९।

यदि प्रभा विलसित प्रतिभा हो, तो मेरे इस आह्वान (चुनौती) को स्वीकार कर शास्त्रार्थ मञ्च की शरण का आश्रय लीजिए। कदाचित् शक्ति न हो अथवा समाधान हो गया हो, तो मुनिवर दयानन्द के सिद्धान्तों को अपना कर आय समाज साधित बुद्धिमत्ता से अपना कल्याण कीजिए ॥६०॥

अपने अन्तःकरण रूपी नीडों में प्रशान्त भाव से स्थित आर्य-जन-विहगों को अपनी कुमति रूपी रात्रि में घूघूत्कार प्रघोष रूप दुर्मत चञ्चु-प्रहारों से बार-बार उद्वेजन करते हुए हे ! घूत्कार करने वालों ! अब मूक हो जाओ, क्योंकि श्री दयानन्द रूपी सूर्य के आकाश में समुदित हो जाने पर ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का सुप्रभात-प्रकाश सब ओर फैल रहा है ॥७१॥

रे रे रे भूरिमायाः ! स्व-विवरमधुना संप्रविश्याध्वमाशु,
घोरं पौराणिकं वा उदय - गिरिमगुर्वेद-भानु-प्रभासः।
हसाः पाण्डित्य-पूता उषसि कलरवे, मानसस्याग्रभूमौ,
वेदानां भूमिकायाः विमलतर-यशो-गायने दत्तचित्ताः ॥७२॥

रे भूरिमाय ! अब आप अपने पौराणिक (पुराने घोर बिल में प्रविष्ट हो बैठ जाओ, क्योंकि वेद भानु का प्रकृष्ट-प्रकाश उदयाचल पर होने लगा है, मानस (मानसरोवर,) की अग्रभूमि (ऊंचे स्तर) पर पक्षियों के कलरवमय उषः काल में नीर-क्षीर-विवेचनपाण्डित्य से पवित्र हंस, वेदों की भूमिका की अत्यन्त निर्मल महिमा का गान करने लगे हैं ॥७२॥

अथ श्री करपात्रि-कृत-दयानन्दीय-मत-खण्डन-खण्डनम्

श्री करपात्रमहोदयेन महर्षिदयानन्द-सरस्वती-लिखितायाः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः खण्डनं 'वेदार्थ-पारिजात-ग्रन्थे' 'दयागन्द-मत-खण्डनम्' इति शीर्षकेण प्रारब्धम्। ततः पूर्वमस्य ग्रंथस्य ४८३ तम-पृष्ठस्य अन्तिम-पङ्क्तौ तेन ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकायाः प्रति-पद-वाक्य-रचना-सिद्धान्तादीनां खण्डनधिया 'कणेहत्य खण्ड्यते' इति प्रस्तावना कृता। तदर्थ-निष्पादित-ग्रन्थस्य तस्य भाषाँ भावावलीं सन्दर्भश्चि

'श्री करपात्री कृत दयानन्दीय मत के खण्डन का खण्डन

श्री करपात्री महोदय ने महर्षि-दयानन्द-सरस्वती-विरचित ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका का खण्डन 'वेदार्थ-परिजात' में 'दयानन्द मत-खण्डन' इस शीर्षक से प्रारम्भ किया है। उससे पूर्व इस ग्रन्थ के पृ० ४८३ की अन्तिम पंक्ति में ऋषि दयानन्द की भूमिका के प्रत्येक पद वाक्य रचना, सिद्धान्त आदि के खण्डन की बुद्धि से ही 'कणेहत्य खण्डयते' लिखकर प्रस्तावना की है। इसी उद्देश्य से लिखित इस पारिजात-ग्रन्थ की भाषा भावावली और सन्दर्भों का पर्यालोचन करके मैं इस निष्कष पर पहुंच रहा हूं कि इस काषाय-वस्त्रधारी साधु ने

पर्यालोच्य अहमेतमेव निष्कर्षं समाश्रये यदनेन काषायाम्बरधारिणा संन्यासिनाऽतितरां-पौराणिक-रूढ संस्कार-प्रतिवद्धचेतसा संकीर्ण-वृत्ति विनिविष्ट-धिया असूया-भावाभिभूतात्मना, रागद्वेषपरीत-मनसैव ग्रन्थोऽसौ विरचित इति। ग्रन्थोऽसौ तर्कनिकषाऽसहः, अन्तःसारशून्यो बहिश्च महाडम्बर-कलेवरो वर्तते। सुधियश्च गहनाध्ययनधियाऽव-गमिष्यन्ति, यदयं करपात्र-महोदयः 'भूमिकायाः' वाक्यान्यर्थान्तर मनभीष्टमुद्भाव्य प्रस्तौति। बहुत्र तदभिप्रायं चामोट्य स्वाभीप्सितं प्रतिपादयितुं यतते।

अहम् ऋतम्भरप्रज्ञावतां महर्षि-दयानन्द-सरस्वतीनाम् अविकलं भूमिकालेखं प्रमाण-परिपुष्टं युक्त-युक्तिजुष्टं सर्वथा वेदानुमतमिति परिपोषयितुमेव श्री करपात्र-लेख-समालोचना-पुरःसरम् ऋषिदयानन्द 'भूमिकायाः' भाष्यभूतमेव 'वेदार्थ-कल्प-द्रुम' नाम-ग्रन्थमरचयम्।

पौराणिक रूढ़िगत संस्कारों से अत्यन्त प्रतिबद्ध-चित्त होकर संकीर्णवृत्ति में बुद्धि को अभिनिविष्ट करके असूया-भाव से अभिभूत होकर, रागद्वेष में उलझे-मनसे इस ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तथा अन्तः सार शून्य एवं बाहरी आडम्बरयुक्त-कलेवर है। विद्वज्जन इसके गहरे अध्ययन से समझ जायेंगे कि श्री करपात्री जी ने 'ऋषि भूमिका' में वाक्यों को ऋषि दयानन्द से अनभीष्ट अर्थान्तर की कल्पना कर प्रस्तुत किया है और बहुत से स्थलों पर अभिप्रायः को तोड़ मरोड़ कर अपने अभीप्सित को सिद्ध करने का प्रयास किया है।

मैंने, ऋतम्भराप्रज्ञ महर्षि दयानन्द-सरस्वती का अविकल भूमिकालेख, प्रमाणों से परिपुष्ट, युक्ति (तर्क) संगत तथा सर्वथा वेदानुमत है, इस बात की परिपुष्टि करने के लिए श्री करपात्री जी के लेख की आलोचना करते हुए, ऋषिभाष्य-भूमिका के भाष्यभूत 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

अथ वेदोत्पत्ति-विचारः

"दयानन्दीय-ऋग्वेद-भाष्य-भूमिकायां वेदोत्पत्ति प्रकरणे यच्च दयानन्देन" इति वेदार्थ-पारिजाते-४८४ तमे-पृष्ठे अनुच्छेदे १ मे लिखितम्।

आलोचना—अस्मिन् वाक्ये दयानन्दीयेति प्रयोगानन्तरं 'दयानन्देन' इति पदप्रयोगः पुनरुक्तिदोषदूषितः, विशेषार्थकत्वाभावे पुनः प्रयोगानावश्यकत्वात्। अतः 'दयानन्देन' इति स्थाने 'तेन' इत्येव सुवचम्, यद्वा स्वीय-हिन्दीभाषानुवादकमनुसृत्य 'दयानन्दीय' इति स्थाने 'स्वीय' इति पदं प्रयोज्यम्।

अपि चास्मिन्नेव वाक्ये श्री करपात्रि-महोदयः 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' स्थाने 'ऋग्वेद-भाष्य-भूमि'केति लिखन् आदावेव 'आदि'

अथ वेदोत्पत्ति-विचार

वेदार्थ-पारिजात के पृ० ४८४ के १ म अनुच्छेद में लिखित "दयानन्दीय··· यच्च दयानन्देन" इस वाक्य में 'दयानन्दीय' शब्द प्रयोग के पश्चात् पुनः 'दयानन्देन' इस पद का प्रयोग पुनरुक्तिदोष से दूषित है, क्योंकि विशेषार्थ के अभाव में फिर से उसी शब्द का प्रयोग अनावश्यक होता है। अतः 'दयानन्देन' के स्थान पर 'तेन' पद का प्रयोग करना चाहिए था अथवा अपने हिन्दी अनुवादक का अनुसरण करते हुए 'दयानन्दीय' पद के स्थान पर 'स्वीय' (अपनी) यह प्रयोग उपयुक्त था। और इसी वाक्य में 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' के स्थान पर 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका' लिखते हुए आदि पद का प्रयोग नही किया, यह एक छल है, अथवा अपनी खण्डनीय पुस्तक के पूर्ण नाम के ज्ञान का अभाव है और यदि ज्ञान है, तो यथार्थ का अपलाप किया गया है, क्योंकि स्वामी दयानन्द की भाष्य-भूमिका केवल ऋग्वेद की ही भाष्य-भूमिका नहीं है, अपितु चारों वेदों के भाष्य की भूमिका है, यह यथार्थ है, और जो यह कहा गया है कि 'तस्माद् यज्ञात्', इस यजुर्वेद के मन्त्र मे पठित ऋचः, सामानि, यजुः

शब्दं न प्रयुङ्क्ते । सोऽयमत्र छलं करोति अथवा स्वखण्डनीय-पुस्तकस्य पूर्णमपिनाम न जानातीति प्रतीयते। जानन्नपि यथार्थमपलपतीति वा, यतो हि ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकेयं न केवलमृग्वेदस्यैवापितु चतुर्णामेव वेदानांभाष्य-भूमिकेति यथार्थम्। यदप्युक्तं "तस्माद्यज्ञात् (यजुः ३१।७) इति मन्त्रे 'ऋचः' 'सामानि' 'यजु' रिति मन्त्रवाचकान्येव पदानि न ऋग्वेदादि-पराणि, तथार्थविधाने मानाऽभावादिति" तदज्ञतैव व्यज्यते वैदिकवाङ्मयस्य विषये श्रीकरपात्रिणः। तथाहिः— 'ऋच' इत्यादीनां पदानामिह नूनं वेदवाचकत्वमस्ति, प्रमाणोपलब्धेः।

तथाहि—भवच्छिरोधार्यः सायणाचार्यः तैत्तिरीय-संहिता-भाष्य-भमिकायाम् :—

'ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत' इति मन्त्रस्योद्धरणप्रसंगे "ननु वेदोऽपि कालिदासादि-वाक्यवत् पौरुषेय एव ब्रह्मकार्यत्वश्रवणादितियत् वेदस्य पौरुषयत्वे शङ्कोद्भावनं कृतवान् तत् समर्थयते यदस्मिन्मन्त्रे 'ऋचः' आदिपदानां ऋग्वेदाद्यभिप्राय एव।

अपि च करपात्रमते ऋगादिशब्दानां मन्त्रवाचकत्वे स्वीकृतेऽपि न वेदातिरिक्त-मन्त्राणां ग्रहण-संभवः, एतस्मात् प्राग् ऋग्वेदाद्यति-

---

शब्द मन्त्र के ही वाचक हैं ऋग्वेदादि के नहीं, क्योंकि इस प्रकार के विधान में प्रमाण का अभाव है" यह भी करपात्री जी की वैदिक-वाङ्मय से अज्ञता का द्योतक है। सुनिए (ऋच) इत्यादि पद यहां वेदवाचक ही हैं, क्योंकि ऐसे प्रमाण मिलते हैं। आपके मान्य सायणाचार्य ने तैत्तिरीय संहिता भाष्य भूमिका में ऋचः सामानि जज्ञिरे' इस मन्त्र के प्रसंग में क्या वेद भी कालिदास आदि के वाक्य के समान पौरुषेय हैं, यह शंका उठाई है' इससे यही सूचित होता है कि 'ऋच' आदि शब्दों से आचार्य सायण को भी वेद रूप अर्थ ही अभीष्ट है। और इन शब्दों का मन्त्र वाचकत्व मान लेने पर भी वेदों से अतिरिक्त मन्त्रों का ग्रहण संभव नहीं। क्योंकि इन वेदों से पहले ऋग्वेदादि से भिन्न कोई भी मन्त्र नहीं मिलते जो मन्त्र यहां प्रतीत भी होते हैं वेभी उस वेद से ही सम्बन्धित हैं। अतः 'ऋच' आदि शब्दों से ऋग्वेदादि से अतिरिक्त का मन्त्रवाचकत्व मानना ठीक नहीं, प्रमाण के न होने से, और ऋषिभाष्य भूमिका में वेदों का ग्रहण करना प्रामाणिक है और आपके पक्ष में प्रमाणाभाव

रिक्त-मन्त्राणामनुपलम्भात् अत्र प्रतीयमाना अपि मन्त्राः तत् तद्वेदसम्बद्धा एव।

अतः ऋगादिभिः शब्दैरिह ऋग्वेदाद्यतिरिक्त-मन्त्रवाचकत्वं न स्वीकर्त्तुं योग्यं, मानाभावात्। भवता पूर्वं यच्चाप्युक्तं 'तथार्थविधाने मानाभावादिति, तदपि नूनमविचारितोक्तमेव, यतो हि तत्र बहूनां मानानां समुपलम्भः—तथाहि—

'वाचा विरूप-नित्यया' (ऋग् ८।७५।६) इत्यत्र 'नित्यया उत्पत्तिरहितया वाचा मन्त्ररूपया' इति सायणभाष्ये 'नित्यया वाचा' पदेन मन्त्ररूपिणी ऋग्वेदादेरेव वाणी अभिप्रेताऽस्ति। ऋचां यजुषां साम्नां वापि (तत्तल्लक्षण-युतानां) मन्त्राणां बहुलत्वादपि तत्तद्वेदोपयुक्तात्वाच्चेदमेव सिध्यति।

अग्रेऽपि च 'ऋग्वेदस्य प्राथम्येन सर्वत्र आम्नातत्वात्······ प्राथम्यं च पुरुषसूक्ते स्पष्टम्। 'तस्माद् यज्ञात्·········इति मन्त्रोपन्यासाद 'ऋचः इत्यस्यार्थः ऋग्वेद एव फलति। अन्यच्चापि गोपथ-ब्राह्मणे (२।२४) ऋग्वेदविदमेव होतारम् इत्यादि प्रमाणेन तत्रैव च गोपथे 'प्रजापतिर्यज्ञमतनुत। स ऋचैव होतारमकृणोद्, यजुषाऽऽध्व-

---

से 'ऋच' आदि शब्दों का केवल मन्त्र रूप अर्थ करना अप्रामाणिक है। आपने यह जो कहा कि वैसा अर्थ करने में प्रमाण नहीं है, यह भी अविचारित कथन है, क्योंकि बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं। जैसे कि 'वाचा विरूप नित्यया' (ऋ.८-७५-३) यहां सायण भाष्य में नित्य का अभिप्राय उत्पत्तिरहित मन्त्र रूपिणी वाणी से ऋग्वेदादि की वाणीका ही अभिप्राय है। ऋग् यजु अथवा साम मन्त्रों की भी (अपने-२ लक्षणों से युक्त) प्रयोग बहुलता से अपने-अपने वेदत्व के उपयुक्त होने से भी यही सिद्ध होता है।

आगे भी ऋग्वेद की प्राथमिकता सर्वत्र कही जाने से.. और यह प्राथम्य पुरुष सूक्त में स्पष्ट है। 'तस्माद् यज्ञात्... इस मन्त्र के होने से 'ऋक्' का अथ ऋग्वेद ही सिद्ध होता है।

और भी देखिये गोपथ (२—२४) में' ब्रह्मा के वरण प्रकरण में ऋग्वेद—वेत्ता को होता, यजुर्वेत्ता को 'अध्वर्यु' आदि बनाकर चतुष्पाद यज्ञ प्रतिष्ठित होता है और इसी प्रकार गोपथ के प्रजापतिर्यज्ञमतनुत · इत्यादि प्रकरण से भी ऋगादि शब्दों का वेद वाचकत्व सिद्ध होता है।

यवं, साम्नोद्गातारं अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वमिति प्रकरणादपि ऋगादि-शब्दानां वेदवाचकत्वं परिपुष्टं भवति ।

अपि च सायण-भाष्य-भूमिकायां ६४ तमे पृष्ठे "ननु वेदार्थ-प्रकाशकेस्मिन् ग्रन्थे वेदानां व्याख्येयत्वे सति तत्परित्यज्य यजुरादिकं व्याख्येयत्वेन उपन्यसितुमयुक्तमिति चेत्, नायं दोषः, मन्त्रविशेष-वाचकैर्यजुरादिशब्दैः तत्तन्मन्त्रोपेतानां वेदानामुपलक्षितत्वात्" एतेन ऋचः आदिशब्दैः ऋग्वेदादीनामेवोपलक्षितत्वेन ग्रहणं भवतीति प्रमाणितं भवति । तदेवमिदं सकलं प्रमाणबहुलं विवचन-दुराग्रह-ग्रस्तधियाप्यङ्गीकर्त्तव्यम् ।

अपि च यजुषः एकत्रिंशाध्याये 'चन्द्रमा मनसोजातः इति मन्त्रभाष्ये 'ऋगादिवेदाः… …तस्मादेवोत्पन्नाः' इति वदता वेदभाष्य-कारेण महीधरेणापि सुस्पष्टमेव व्याहृतमृगादीनां शब्दानां वेदवाच-कत्वम् ।

तदेवं 'मन्त्रवाचकान्येव ऋच आदीनि पदानि' इति ब्रुवताऽनेन करपात्रिणा ऋग्वेदाद्यर्थग्रहणरूप-परपक्षमाक्षिपता, मन्त्रार्थग्रहण-रूपस्वपक्षरक्षणाऽक्षमेण स्वसाध्ये किमपि प्रमाणं नोपन्यस्तमिति नूनं वितण्डास्थानमाश्रितम् ।

सायण भाष्य भूमिका में पृ. ६४ पर ननुवेदार्थ-प्रकाशके त्यादि अंश से 'ऋच' आदि शब्दों से ऋग्वेदादि का ही ग्रहण होता है। यदि यहां यह कहा जाय कि यह सब प्रमाणवाद करपात्री जी की दृष्टि में कुछ नहीं, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रमाणवाद इतना प्रबल है कि दुराग्रह ग्रस्त बुद्धि वाले व्यक्ति को भी स्वीकार्य होना चाहिए ।

यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय से भी 'चन्द्रमा मनसो जातः' इस मन्त्र के भाष्य में 'ऋगादिवेद उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं कहते हुये वेद भाष्य-कार महीधर ने ऋगादि शब्दों का वेदवाचकत्व स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है ।

इस प्रकार ऋगादि पद मन्त्र वाचक ही हैं' कहते हुये इन करपात्री जी ने ऋग्वेदादिरूपार्थपक्ष पर आक्षेप उठाते हुए मंत्रार्थ-रूपस्वपक्ष की रक्षा में प्रमाण उपस्थित करने में असमर्थ होते हुये, निश्चय ही वितण्डास्थान का आश्रय लिया है ।

अथान्यदपि विविच्यते विषयेऽस्मिन् । तथाहि:—(पू० प०) प्रश्नोऽयं मीमांसायामेवं समालोचितः—'श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् (मी० ३।३।१) ज्योतिष्टोमे श्रूयते उच्चैः ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषेति । तत्र सन्देहः किमृगादि-जातिमधिकृत्य एते शब्दाः प्रवृत्ताः उत वेदमधिकृत्य इत्याद्युपन्यासे पूर्वपक्षे 'ऋचा' आदि शब्दानां श्रवणादेव 'उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने माना-भावात् ऋक्त्वाद्यवछिन्न-मन्त्राणामेव ग्रहणं भविष्यति न तु वेदानाम् ।

अथ सिद्धान्त-पक्षः प्रस्तूयते शावर-भाष्य-दिशा—'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी० ३।३।२) वेदं बाधिकृत्येदमुच्यते । कुतः प्राय-दर्शनात् । वेदप्राये वाक्ये वेदोपक्रमे निगम्यमानाः इमे शब्दाः श्रूयन्ते—प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्, स तपोऽतप्यत, तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त अग्निवायवादित्याः, ते तपोऽतप्यन्त, तेभ्यस्ते-पानेभ्यः त्रयो वेदा असृज्यन्त, अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात् सामवेदः इत्येवमुपक्रम्य निगमने इदं श्रूयते, उच्चै ऋचा

इसके पश्चात् इसी विषय में इसका और भी विवेचन किया जाता है। यह प्रश्न मीमांसा में उठाया गया है (श्रुतेर्जाताधिकार…इत्यादिमी• ६।३।१ सूत्र में ज्योतिष्टोमयाग के प्रकरण में उच्चैः ऋचा क्रियते…इत्यादि वाक्यों में जो उच्चैस्त्वादि का विधान है, वह क्या ऋगादि जाति को अधिकृत करके ये शब्द प्रवृत्त हुये हैं वा वेद को अधिकृत करके? इत्यादि प्रकरण में ऋगादि शब्दों के सुनाई पड़ने से उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना में प्रमाण का अभाव होने से ऋक्त्वादि से युक्त मन्त्रों का ही ग्रहण होगा, वेदों का नहीं ।

(सिद्धान्तपक्ष) अब शाबर भाष्य की दृष्टि से सिद्धान्त पक्ष भी प्रस्तुत किया जाता है। वेदो वा प्रायदर्शनात् (३।३।२) सूत्र में वेद को अधिकृत करके यह कहा जा रहा है। क्योंकि वेदों का उपक्रम करके ही उक्त पदों का प्रयोग किया गया है। प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्… इत्यादि स्थल में प्रजापति एक था, उसने तप किया, उस तप से तीन देवता उत्पन्न हुए, अग्नि, वायु और आदित्य उन्होंने तप किया उनके तप करने से तीन वेद बने। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, आदित्य से सामवेद, इस प्रकार उपक्रम करके पश्चात् उपसंहार में 'उच्चै ऋचा क्रियते' इत्यादि कथन किया है। इस प्रकार ऋगादि वेदवचनों से यहां भी ऋग्वेदादि का ग्रहण ही उचित है; क्योंकि एक देश के ग्रहण से समु-

त्रियते, उच्चैः साम्ना उपांशु यजुषेति ।......ऋगादिभिरपि वेद-वचनैरेवोपसंहारेण भवितव्यम्'' एवम् एकदेश-ग्रहणेन समुदायस्य ग्रहणम् इतिन्यायश्चापि सङ्गच्छते ।

उक्तार्थसाधकं लिङ्ग वाऽप्युच्यतेः—लिङ्गाच्च (मी०३।३।३) 'ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते'......अत्र ऋक् शब्दं वेदवचनं दर्शयति । तस्मादपि पश्यामः वेदाधिकारा एते शब्दाः । 'वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः,' अत्र बहुवचनान्त-वेद-शब्द-प्रयोगः 'ऋचा' आदि-शब्दानां वेदवाचकत्वे लिङ्गम् इति शावरानुशिष्टम् ।

इममेवार्थं दृढीकर्त्तुमन्यदपि—'धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः (मी० ३।३।४) इति सूत्र-व्याख्याने 'उच्चैः साम्नेति धर्मोपदेशात् साम आदीनि पदानि न मन्त्रवाचकानि, प्रत्युत वेदवाचकानि इति संकेतितं भवति । अत्र च ऋगादिशब्दानाम् ऋग्वेदाद्यर्थे स्वीकृते एव तेषामुच्चैस्त्वादिधर्मः सिद्धो भवितुमर्हति । मन्त्रार्थे मते तु न संभवति यतः 'ऋच्यध्यूढं साम गायति' इति वाक्यमनुसृत्य गायनादेव ऋचः उच्चैस्त्वधर्मः स्वयमेव साम अधिगतो भवति, न तद्विधानस्य काप्यावश्यकता । तथा च 'त्रयी विद्याख्या च तद्विदि (मी० ३।३।५) इत्यनेनाप्यवगन्तव्यं यत् ऋग्यजुःसामेति त्रयी प्रसिद्धा । 'त्रयी'

शब्दस्य च विद्यापद-सामानाधिकरण्येन ऋच आदीनां, वेदवाचकत्वं सिद्धम् भवति ।

मन्त्रवाचके तु स्वीकृते तद्वेत्तारं 'त्रयीविद्यः' इति वक्तुं न शक्यते 'त्रयीविद्याख्या च तद्विदि' सूत्रस्थः त्रयीविद्याशब्दः अपि इदमेव समर्थयते ।

ननु ऋगादिशब्दानां यदि मन्त्रवाचकत्वं नास्ति वेदवाचकत्वमेव चास्ति, तर्हि ऋचि उच्चैस्त्वस्य यजुषि चोपांशुत्वस्य श्रवणलाभो न स्यात् । अतःऋगादयः शब्दाः मन्त्रवाचका एव न तु वेदवाचका इति चेन्न, 'न सर्वस्मिन् निवेशात्' (मी० ३।३।७) सर्वस्मिन् ऋग्वेदे उच्चैस्त्वं सर्वस्मिन् यजुर्वेदे चोपांशुत्वं, तत्र यदि ऋग्वेदव्यतिक्रान्तायाः ऋचो यजुर्वेदे उपांशुत्वं भवति इति चेन्नैतद्दूषणम् इति तत्र समाहितम् ।

अतः तत्र मन्त्रे ऋगादिपदानां वाच्यो वेद एव न तु मन्त्र इति । एवं सर्वमेतत् प्रमाणबहुलं समालोच्यावगन्तव्यं यत् महर्षिदयानन्दस्य

दाय के ग्रहण का नियम न्याय-संगत होने से ऋगादि शब्दों से वेदों का ही ग्रहण सुप्रमाणित होता है ।

इस बात की सिद्धि लिङ्ग से भी होती है । 'लिङ्गाच्च' मीमांसा के भाष्य में "ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते" में भी ऋक् शब्द ऋग्वेद के वचनों को प्रकट करता है । यदि ऋक् शब्द ऋग्वेद का वाचक न होता, तो बहुवचन का प्रयोग न होता । ये शब्द वेद के अधिकार को प्रकट करते हैं । 'वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः' यहां बहुवचनान्त वेद-शब्द-प्रयोग 'ऋचा' आदि शब्दों के वेद वाचक होने में लिङ्ग है । यह शाबर भाष्य का अभिप्राय है ।

इसी बात को दृढ़ करने के लिए और भी देखिये :— धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः (मी. सू. ३।३।४) के अनुसार 'उच्चैः साम्ना' इस धर्मोपदेश से साम का उच्चैस्त्वधर्म कथन करने से भी उक्त अर्थ की पुष्टि होती है । तथा च 'त्रयी' यह नाम ऋग्, यजु, साम इन तीनों का ही प्रसिद्ध है और त्रयी के साथ विद्या पद का सामानाधिकण्य होने से ऋगादि का वेदवाचित्व स्पष्ट सिद्ध है । इन तीनों को मन्त्रवाची मानने पर 'तद्वेत्ता' को त्रयीविद्यः नहीं कह सकते । त्रयी विद्याख्या च तद्विदि इस मीमांसा सूत्र में 'त्रयी विद्या' शब्द भी इसी बात का समर्थन करता है ।

यहां यह शङ्का हो सकती है कि यदि ऋगादि शब्द मन्त्र वाचक न होकर वद वाचक ही हैं तो ऋक् में उच्चैत्व और यजुः में उपाँशुत्व का श्रवण लाभ नहीं होगा ।

इसलिए ऋगादि शब्द मन्त्र वाचक ही हैं वेद वाचक नहीं, यदि यह पक्ष माना जाय तो ठीक नहीं—न 'सर्वस्मिन्' सूत्र के कारण कोई दोष नहीं अर्थात् यदि सम्पूर्ण ऋग्वेद में उच्चैत्व और सम्पूर्ण यजुर्वेद में उपांशुत्व हो, यदि ऋग्वेद में आई हुई ऋचा का यजुर्वेद में उपांशुत्व होता है । तो कोई दोष नहीं इस प्रकार वहाँ समाधान किया है ।

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि ऋगादि शब्दों का ऋग्वेदाद्यर्थ मानने पर ही उनका उच्चैत्व धर्म सिद्ध हो सकता है मन्त्रार्थ मानने पर नहीं, क्योंकि 'ऋच्यध्यूढं .. के अनुसार ऋचा का उच्चैस्त्व धर्म अपने आप ही साम को मिल जाता है, उसके विधान की कोई आवश्यकता नहीं ।

इसलिए महर्षिदयानन्द की भाष्य भूमिका के उस स्थल में ऋचः आदि पदों का वाच्य वेद ही है मन्त्र नहीं ।

शास्त्रतत्त्व-विमर्शन-क्षमा प्रतिभा काप्यद्भुतैवासीदिति, यच्च तेन लिखितं तत् शुद्धमेव लिखितमिति च स्वोकर्त्तव्यम् ।

श्रीमन् यतिपदलाच्छन ! भवानेव बोधयतु साम्प्रतं यत् स्वविषये भवतः सच्छास्त्र-सार-निगमागमपारदृश्वेति लेखनसार्थकता क्वागात् ?

अधुना तु महर्षिदयानन्दे मिथ्यारोपारोपणेनानेन श्रुत्यर्थदूषण-बद्धकक्षत्वाक्षत-दक्षत्वमेव भवतो विपश्चिद्भिरक्षिलक्ष्यीक्रियते ।

यदप्याह भवान्-'नहिमन्त्रा एव वेदाः वेदत्वबोधक-मन्त्रानुपलब्धेः' तदप्यविचारितचारु ।

अत्र हि पृच्छ्यते किं भवदभिप्राय एष यत् स्वतःप्रमाणभूतस्य वेदस्य मन्त्रो नोपलभ्यते ? उतान्यः कश्चित् ?

यदि तावदाद्यः तदा एतेनाऽपि भवदभिप्रायेण ध्वन्यते यन्मन्त्रास्तु वेदगता एव भवन्ति नान्ये ; येषां यस्य वाऽनुपलब्धिं भवान् वक्ति । 'ऋच' आदयश्च शब्दाः भवन्मते मन्त्र-वाचकाः एव । 'ऋच' आदिशब्दैः ऋग्वेदादीनामेव बोधः कथं न स्यात् ? अन्योऽभिप्रायस्तु न संभवति

इस प्रकार इन समस्त प्रमाणों को देखकर समझना चाहिये कि महर्षि दयानन्द में शास्त्र तत्त्व विमर्शन की अद्भुत क्षमता वाली कोई अनोखी प्रतिभा थी और जो कुछ उन्होंने लिखा, ठीक ही लिखा है यह अब आपको स्वीकार करना चाहिए ।

संन्यासि-पद-समलंकृत महाराज ! अब आप ही बताइये कि आपकी श्रेष्ठ शास्त्र और वेदों के पार तक पहुंचने की शक्ति की सार्थकता कहाँ चली गई । अब तो महर्षि दयानन्द पर मिथ्यारोप के आरोपण के कारण आपकी श्रुत्यर्थ-दूषणता ही सब विद्वानों को दीख रही है ।

और जो आपने कहा है कि मन्त्र ही वेद नहीं, वेदत्व बोधक मन्त्रों की प्राप्ति न होने से, सो भी आपने विना विचारे ही कह डाला है ।

अच्छा तो आपसे प्रश्न यह है कि आपका इस बात से अभिप्राय क्या है ? क्या स्वतः प्रमाणभूत वेद का कोई प्रमाण नहीं मिलता अथवा कुछ और ? यदि आपका अभिप्राय प्रथम है तो आपके इस अभिप्राय से ध्वनित होता है कि मन्त्र तो वेदगत ही होते हैं अन्य नहीं, जिनकी या जिसकी अनुलपब्धि को आप बता रहे हैं । क्योंकि ऋचः आदि शब्द आपके मत में मन्त्र वाचक ही हैं

भवतः । अस्मन्मते परतः प्रमाणभूतानां भवन्मते च स्वतः प्रमाणी-कृतानां ब्राह्मणादीनां बहुप्रमाणोपलब्धेः । न चात्रैवं शङ्कनीयं यत् ब्राह्मणादीनां परतः प्रमाणत्वादस्माकं कृते कथं प्रामाण्यं तेषाम् ? अत्रोच्यते ब्राह्मणादीनां प्रामाण्यं तु वेदाऽविरोधित्वे सति तदनुगतत्वे एव जायते ।

अपरं चेदमत्र निभालनीयं यद् व्याकरणेऽपि मन्त्र-शब्देन संहिता-भाग एव गृह्यते न तु ब्राह्मणम् । यथा 'मन्त्रे घसह्वरणश ? (अष्टा० २।४।८०) इति अष्टाध्यायी-सूत्रे –'अज्ञत वाऽस्य पुनर्दन्ताः' (ऐत० ७।१४) इति ऐतरेय-ब्राह्मणगतमिदमुदाहरणं काशिकाकारः प्रादर्शयत् तथा च तत्रोल्लिखितं 'ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम्' मन्त्र-ग्रहणं तु इह छन्दस उपलक्षणार्थम् ।

काशिका-टीकाकारोऽपि हरिदत्तः पदमञ्जर्यां टिप्पणीं चक्रे 'कथं पुनर्मन्त्रग्रहणे ब्राह्मणग्रहणं भवति ? तत्राह मन्त्रग्रहणं त्विति, मन्त्रस्य छन्दोरूपत्वात् तेन तदुपलक्ष्यते' इति । शब्दकौस्तुभेऽपि तदनुसारं

फिर 'ऋचः' आदि शब्दों से ऋग्वेद आदि का बोध क्यों न हो ? आपका दूसरा अभिप्राय सम्भव नहीं, क्योंकि हमारे मत में परतः प्रमाणभूत आपके मत में स्वतः प्रमाणीभूत ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनेक प्रमाण मिलते हैं । यहां यह शंका भी नहीं करनी चाहिये कि परतः प्रमाणभूत-ब्राह्मणदि का हमारे मत में प्रामाण्य कैसे होगा ? यहां यह जानना चाहिये कि—

ब्राह्मणदि ग्रन्थों का प्रामाण्य, वेद का अविरोधी तथा वेदानुकूल होने पर ही माना जा सकता है । यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि पाणिनीय व्याकरण में भी मंत्र शब्द से संहिता-भाग ही लिया जाता है ब्राह्मण भाग नहीं । जैसेकि—'मन्त्रे घसह्वरण' (अष्टा २।४।८०) सूत्र में 'अज्ञत वाऽस्य पुनर्दन्ताः' (ऐत० ७।१४) इस ऐतरेय ब्राह्मण के उदाहरण को काशिकाकार ने दिखाया है, जैसाकि यहां लिखा भी है 'ब्राह्मणे प्रयोगोऽयम्' मन्त्रग्रहण तो छन्द के उपलक्षण के लिये है ।

काशिका के टीकाकार हरिदत्त ने भी पदमञ्जरी में टिप्पणी लिखी है—'कथंमन्त्रग्रहणे····· अर्थात् मन्त्र ग्रहण में ब्राह्मण ग्रहण क्यों होता है ? तो इसका उत्तर लिखते हैं कि मन्त्र ग्रहण के विषय में तो, मन्त्र के छन्द रूप होने से मन्त्र शब्द से ब्राह्मण-ग्रन्थ उपलक्षित होता है । इसी प्रकार 'शब्द

प्रत्यपादि; 'मन्त्रग्रहणं सूत्रे छन्दस उपलक्षणार्थम्, इति ब्राह्मणेऽपि लुक् सिध्यति। एवं पाणिनीय-सूत्रेषु मन्त्रेण संहितायाः छन्दसा च संहिता-ब्राह्मणादीनां ग्रहणं सुस्पष्टमेव एवमनया व्याकरणदृशाऽपि ऋषि-दयानन्दकृतार्थस्यैव पुष्टिर्जायते।

वे० पा० ४८४ तमे पृष्ठे २ यानुच्छेदे यच्चाह "छन्दांसि' इत्यस्य 'अथर्ववेद' इत्यपि निर्मूलोऽर्थः तत्पदस्य ब्राह्मणग्रन्थवाचकत्वाच्च' तदपि नूनमविचारितमेव, यतः छन्दःपदमथर्ववेदस्यापि वाचकं तथाहिः—'यत्र ब्रह्मा पवमानश्छन्दस्यां वाचं वदन्' (ऋग्वेद ९।११३।६) इति स्थले ब्रह्मा छन्दस्यामथर्ववेदीयां वाचं वदन् इत्युक्त-मस्ति। ब्रह्मा च 'तस्माद् यजमानो भृग्वङ्गिरोविदमेव तत्र ब्रह्माणं वृणीयात' (गो० ब्रा० २।२।५) इति गोपथ-प्रमाणेन अङ्गिरोविदेवार्थाद-थर्ववेदविदेव यज्ञे ब्रह्मत्वेन वृतोभवति। अथ च अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्व मितिच गो० ब्रा० (१.३.१.२) इति प्रमाणेन अथर्ववेदविदेव ब्रह्मा भवति इति कथनात्—तत्र (९।११३।६) ऋग्वेद 'स्थलेऽपि छन्दस्याम्' इति पदस्यार्थः अथर्ववेद एव इति कारणात्, 'छन्दांसि' पदस्यार्थः अथर्ववेद एव। अथापि ऋगादिवेदानां रचनाकाले ब्राह्मणग्रन्थाना-

---

कौस्तुभ' में भी इसी व्याख्यान सूत्र में मन्त्र ग्रहण, छन्द के उपलक्षण के लिये है, इसीलिये ब्राह्मण ग्रन्थों मे भी (सूत्रकार्य) लुक् सिद्ध होता है। इस प्रकार पाणिनीय सूत्रों में मन्त्र से संहिता और छन्द से संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण होता है। इस प्रकार इस व्याकरण दृष्टि से भी ऋषि दयानन्द-कृत अर्थ की पुष्टि होती है।

वे० पा० के पृ० ४८४ के २ अनुच्छेद में यह जो कहा है कि 'छन्दांसि' पद का अर्थ अथर्ववेद करना निर्मूल है वह पद तो ब्राह्मणग्रन्थों का वाचक है—सो सर्वथा अविचारित ही है, क्योंकि छन्दः पद अथर्ववेद का वाचक है। इसमें 'यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां वाचं वदन्' यह ऋग्वेद ९-११३-६ का प्रमाण है। ब्रह्मा गोपथ ब्राह्मणों के प्रमाणों के अनुसार अंगिरोवित् अर्थात् अथर्ववेद का ज्ञाता ही चुना जाता है और अथर्ववेद का ज्ञाता ही ब्रह्मा होता है, ऋग्वेद के उक्तस्थल में छन्दस्यां वाचं का अर्थ अथर्ववेदीय वाणी ही है। अतः ऋग्वेद के इस प्रमाण से छन्दांसि पद का अर्थ अथर्ववेद ही सिद्ध होता है ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं। तथा च ऋग्वेददि के रचनाकाल में ब्राह्मण ग्रन्थों की सत्ता ही नहीं थी, अतः छन्दांसि पद से ब्राह्मण ग्रंथरूप अर्थ कदापि संभव नहीं।

मविद्यमानत्वात् 'छन्दांसि' पदेन अथर्ववेदस्यैवग्रहणं संभवति न ब्राह्मणानाम्।

यदप्युक्तं पारिजाते 'न च ब्राह्मणाादिग्रन्थैस्तेषां वेदत्वं सिध्यति, त्वया तेषां प्रामाण्यस्वतस्त्वानभ्युपगमात्' इति तदपि तुच्छमेव; यतोहि भवत्प्रामाऽण्यास्पदमधितिष्ठदिभः सायणादिभिरपि श्री सामश्रमिमते चतुर्णामेव वेदानां स्वतः-प्रामाण्यं स्वीकृतम्। तथाहि सामश्रमी स्वकीये ऐतरेयालोचने ३ ये पृष्ठे अलिखत्—"ब्राह्मणानामादिवेद-भाष्यरूपत्वं सिद्धान्तितमिति कथनेन ब्राह्मणानां वेदभाष्यरूपत्वमेव सूच्यते न वेदत्वं, तथा च वेदस्य स्वतःप्रामाण्यं चोदनासूत्रे भट्टकुमारिलैराचार्यै रुपपादितं तथा च श्लोकवार्तिके—

स्वतः सर्वप्रमाणानां, प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः, कर्त्तु मन्येन शक्यते॥

अपि च 'तत्र बहुधा विवदन्ते',
इति कथनेन च वेदानां स्वतः प्रामाण्यममन्वानानां
मतेऽस्वारस्यं व्यज्यते आचार्य-सायणस्येति प्रोक्तम्।

वे० पा० ४८४ तमपृष्ठस्य तृतीयेऽनुच्छेदे यदप्युक्तं—

"वेदाः सर्वहुतः सर्वैर्मनुष्यैर्होतुमादातु योग्याः सन्ति इति तदपि तुच्छं लिङ्गविभक्तिविपरिणामापत्तेः" तदपि अविचारितोक्तमेव।

जो यह कहा गया है कि ब्राह्मणादिग्रन्थों से उनका वेदत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आपके द्वारा उनके स्वतः प्रामाण्य होने की स्वीकृति नहीं।' सो यह भी आपके तुच्छ ज्ञान का परिचायक है, क्योंकि श्री सामश्रमी जी के मत में सायणादि आचार्यों ने वेदों को ही स्वतः प्रमाण माना है ब्राह्मणग्रन्थों को नहीं, जैसाकि सामश्रमी जी ने अपने ग्रंथ 'ऐतरेयालोचन' में पृष्ठ ३ पर लिखा है :— 'ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के सर्वप्रथम भाष्य रूप हैं ऐसा कहने से ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदों का भाष्य-रूप होना ही सूचित होता है वेदत्व नहीं। आचार्यकुमारिल भट्ट ने भी चोदना सूत्र के प्रसंग में वेदों का स्वतः प्रामाण्य ही उपपादित किया है तथा श्लोक-वार्तिक में भी 'स्वतः सर्वप्रमाणाना' मित्यादि प्रतिपादित किया है तथा 'तत्र बहुधा' इत्यादि अंश से वेदों को स्वतः प्रमाण न मानने वाले लोगों के पक्ष में आचार्य सायण की अरुचि प्रकट की है।

वेदार्थ पारिजात के पृ० ४८४ के ३ य अनुच्छेद में जो यह कहा है कि 'वेदाः सर्वहुत' स्थल में लिङ्ग विभक्ति विपरिणाम की आपत्ति आ जायेगी,

यतो हि विपरिणामेन न कोऽपि दम्भोलिपातो भवति प्रत्युत सर्वहुतः पदस्य वेदविशेषणत्वे सुसङ्गतिरेव, अपि च बहुलार्थ-प्रसव-क्षम-पद-विशिष्टप्रयागाद् उत्तमकाव्यत्वसिद्धिरेव वेदानाम्। अतः सर्वहुतः इति पदस्य पञ्चमीप्रथमयोर्विभक्त्योः द्वयोरपि सिद्धिसम्भवात् व्याख्याकर्त्तुर्महर्षेर्दयानन्दस्य विशिष्टप्रतिभैव द्योतते।

यदुप्युक्तं 'न बीजमन्तरा लिङ्गविभक्तिविपरिणामो युक्तः' इति तदपि न युक्तं, अर्थनित्यः परीक्षेत, यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेदिति यास्कोक्तेः प्रामाण्यात् अर्थस्य प्राधान्येन तदनुकूलविभक्तिविपरिणामस्यौचित्यात्।

उब्बटमहीधराभ्यामपि 'हविषा विधेम' इत्यत्र मन्त्रभाष्ये विदधातिर्दानकर्मा। हविरिति विभवित-व्यत्ययो द्वितीयान्तः, 'हविर्ददमः।'' इति व्यत्ययः कृतः। उब्वटेन तु व्याख्याधर्मेषुः—

अतिरिक्तं पदं त्याज्यं, हीनं वाक्ये निवेशयेत्।
विप्रकृष्टं तु सन्दध्यादानुपूर्व्यं च कल्पयेत्॥
लिङ्गं धातुं विभक्तिं च योज्यं वाक्यानुलोमतः।

सो यह भी ठीक नहीं क्योंकि इनके विपरिणाम से कोई वज्रपात नहीं हो जायेगा, बल्कि सर्वहुतः पद को वेद का विशेषण मानने पर अर्थ की सुसंगति ही हो जाती है। अनेकार्थ-उत्पादन-समर्थ विशिष्ट पदों का प्रयोग करना वेदों के उत्तमकाव्यत्व को ही सिद्ध करता है। 'सर्वहुतः' पद की प्रथमा और पंचमी दोनों ही विभक्तियों में सिद्धि सम्भव होने से प्रथमान्त मानकर व्याख्या करने से व्याख्याकार महर्षि दयानन्द की विशिष्ट-प्रतिभा ही प्रकट होती है। और यह जो कहा है कि बिना बीज के लिङ्ग, विभक्तियों का बदलना ठीक नहीं सो भी करपात्री जी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यास्काचार्य ने निरुक्त में स्पष्ट कहा है कि अर्थ को नित्य समझकर परीक्षण करे और अर्थानुकूल विभक्तियों को बदल ले। अतः यास्क के प्रमाण से अर्थ की प्रधानता के कारण अर्थानुकूल विभक्ति का बदलना ठीक ही है।

उब्वट और महीधर ने भी 'हविषा विधेम' इस मन्त्र भाष्य में धा धातु दानार्थक है और 'हविषा' पद विभक्तिव्यत्यय से द्वितीयार्थ में है, अतः हवि को देते हैं ऐसा अर्थ किया है। उब्वट ने व्याख्याप्रकारों में लिङ्ग और विभक्ति के विपरिणाम को माना है जैसे उसने कहा है—'अतिरिक्तं पद मित्यादि'

इत्येवं लिङ्ग-विभक्ति-विपरिणामो मतः अग्रे च तेन स्पष्टमेव लिखितं यत् लिङ्गं धातुं विभक्तिं च यथार्थं सन्नमयेत् इति।''

इह सर्वहुतः सर्वैर्हूयमाना वेदाः इति विशिष्टार्थस्योपलब्धिरेव लिङ्गविभक्त्योर्विपरिणामे बीजमिति बोध्यम्। यच्चाप्युच्यते ''सर्वहुतः पदस्य सर्वपूज्यत्व-सर्वोपास्यत्व-रूपार्थकरणेन स्वोक्ति-विरोधाच्च'' तदपि बुद्ध्यभावजन्यमेव। नह्येकपदस्यानेकार्थ-बोधकत्वे विरोधापत्तिः।

न चाप्यत्र सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् परब्रह्मणः सर्वमनुष्यैरादातुं योग्यानां वेदानां विषये कश्चिद् विरोधोपगमः।

अत्र हि प्रतिभा-ग्राह्यस्य वेदार्थस्य लक्ष्यार्थज्ञाने श्री करपात्रिणः अपात्रतैव लक्ष्यते। स्वोक्तिविरोधाच्चेति कथनमपि तस्य बालिशत्व-मेव; यतो हि महीधरादिभिरपि एकस्य शब्दस्यानेकार्थता बहुत्राङ्गी-कृता। यथा 'कुक्कुटोऽसि' (१।१६ यजु०) इति मन्त्रे तेन क्व क्व

अर्थात् अतिरिक्त पद छोड़ देना चाहिये, जो नहीं है इसको निविष्ट करना चाहिये, दूरस्थ को पास और आनुपूर्व्य की कल्पना करनी चाहिये। लिङ्ग, धातु और विभक्ति की वाक्यानुलोम से योजना कर लेनी चाहिये और आगे लिखा है कि लिङ्ग, धातु और विभक्ति को अर्थानुसार मोड़ लेना चाहिये।

यहां पर 'सर्वहूयमान वेद' इस विशिष्ट अर्थ की उपलब्धि ही लिङ्ग बिभक्ति के परिणाम में कारण है। और यह जो कहा जा रहा है कि 'सर्वहुतः' पद का सर्वपूज्यत्व तथा सर्वोपास्यत्व अर्थ करने में अपनी उक्ति का विरोधहोगा'' सो यह कहना भी बुद्धि के अभाव का सूचक है, क्योंकि एक पद के अनेक अर्थ होने से विरोध की उत्पत्ति कभी नहीं होती और यहां पर तो ब्रह्म के सर्वपूज्य तथा—सर्वोपास्य होने से और वेदों के सर्व मनुष्यों के द्वारा ग्रहणयोग्य होने से कोई विरोध प्राप्त नहीं होता। बुद्धिग्राह्य वेदार्थ में लक्ष्यार्थ के करने में करपात्री जी की अपात्रता ही सिद्ध होती है स्वयं कहे हुये का विरोध कहना भी अज्ञता का परिचायक है, क्योंकि महीधरादिवेदभाष्यकारों ने एक शब्द की अनेकार्थकता अनेक स्थानों पर स्वीकार की है, जैसेकि कुक्कुटोऽसि (यजु० १।१६) मन्त्र में 'क्व क्व तान्' इत्यादि स्थल में जो कहाँ-कहाँ मारने के लिये घूमता है या जो निन्दित शब्द करता है उसे कुक्कुट कहते हैं, कहकर कुक्कुट की अनेकार्थकता कही है।

तान् हन्तुमिच्छन् योऽटति, यद्वा कुकं कुत्सितं शब्दं कुटति तनोति इति कुक्कुट इत्याद्यनेकार्थपल्लवनं कृतम् ।

यच्चोक्तं—'अतश्छन्दः पदस्य ब्राह्मणग्रन्थ-वाचकत्वमेवेति । तदपि प्रलापमात्रम् । अस्मिन् मन्त्रे 'छन्दांसि' पदेन ब्राह्मणग्रन्थरूपार्थस्य ग्रहणाऽसम्भवात् । एषां हि ब्राह्मणानां वेदोत्पत्त्यनन्तरं संभवाद् वेद-व्याख्यानरूपत्वाच्च वेदत्वासंभवः । नहि कस्यापि मूलग्रन्थस्य व्याख्यानं कदापि मूलग्रन्थो भवति । अतः वेदानां यजुरादिनामभिः सह ब्राह्मणानां ग्रहणं कदापि नोचितम् ? ब्राह्मणानां वेद व्याख्यानरूपत्वं तु प्रोक्तं सायणाचार्येण तथाहि—"चतुर्वेदविद्भिः ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि इति"। (व्या० महाभाष्ये ५।१।१) अपि—वेदानधीत्यैव तद्वेदितृभि र्ब्राह्मणैरनन्तरं रचितत्वात् (तेषां ब्राह्मणानाम्) इति प्रोक्तम् ।

यत्तु ४८५ तमेपृष्ठे "छन्दःपदस्य वेदपरत्वेन 'छन्दांसि जज्ञिरे' इत्यनेनैव सर्ववेदोत्पत्तिसिद्धौ ऋचः सामानि यजुरित्यादि शब्दानामपि वैयर्थ्यापत्तेरपरिहार्यत्वादिति" प्रोक्तं, तदपि नूनमविचारितमेव । यतः मन्त्रे पठितानामृगादि-पदानां सार्थक्यं तु उपदेश्य-मनुष्याणाम् आदिसर्गे उपदेशनधियैव परमात्मना नाम-संकीर्तन-पूर्वकोपदेशस्याभीष्टत्वात् । अपिच 'छन्दांसि' इति पदेन सर्ववेदानां बोधनकल्पना तु

और जो आपने यह कहा कि छन्दःपद ब्राह्मण ग्रन्थों का ही वाचक है सो भी प्रलापमात्र है । इस मन्त्र में 'छन्दांसि' पद का ब्राह्मणग्रन्थ रूप अर्थ सम्भव नहीं, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के अनन्तर उत्पन्न हुये तथा व्याख्यानरूप हैं वेदरूप नहीं । कभी भी किसी मूलग्रन्थ के व्याख्यान मूलग्रन्थ नहीं होते; अतः यजुः आदि वेदों के नामों के साथ ब्राह्मणों का नाम लेना संगत नहीं ।

और 'छन्दः-शब्द वेद परक है, इसलिये 'छन्दांसि जज्ञिरे' इससे ही सब वेदों की उत्पत्ति सिद्ध होने पर ऋचः सामानि शब्दों की व्यर्थता अपरिहार्य होगी" यह कथन भी निश्चय ही अविचारित है क्योंकि मन्त्र में पठित ऋगादि शब्दों की सार्थकता तो यह है कि सृष्टि में उपदेशार्हमनुष्यों के लिये उपदेश की दृष्टि से परमात्मा ने वेदों का नाम-कथन करना ही अभीष्ट समझा । और छन्दांसि पद से सब वेदों को अर्थरूप समझने का प्रयत्न करना तो निराधार ही है, क्योंकि ऐसा मानने पर नाम लेकर पढ़े

सर्वथा निर्मूलैव । नामग्राहं पठितानामृगादि-शब्दानां वैयर्थ्यापत्तेः, वैयर्थ्ये चान्येष्टापत्तेः सम्भवाभावात् । अतः तेषां त्रयाणां बोधे सति तत्सन्निधानेन सहचरित-परिभाषया छन्दः पदेन अथर्ववेदार्थस्यैव ग्रहणस्य सर्वथा सामीचीन्यं साथक्यं च सिध्यति ।

न च 'छन्दांसि' इति पदेन 'सामानि' इत्यस्य विशेषणं परिकल्प्य गायत्रीत्यादीन्येव छन्दांसि ग्रहीतुमभीष्टानि, सर्वेषामेव वेदानां छन्दोमयत्वात्, विशेषणस्य व्यर्थापत्तेः, पुनरुक्तिदोषापत्तेश्च । अपि च 'जज्ञिरे' इति क्रियायाः पृथक्-पठनादपि छन्दांसि इति पदं सामानि इत्यस्य विशेषणं न सम्बोभवीति न चापि गायत्र्यादिच्छन्दसां बोधकम् । यदा चेदं छन्दांसि पदं नापि विशेषणं नापि गायत्र्यादि-छन्दोबोधकं तदा ऋगादीनां सजातीय-ग्राहकत्वादथर्ववेदस्यैव बोधकमिति निश्चप्रचम् विज्ञेयम् । अपिच स्तुत्यादिपराणां कतिपयानामथर्ववेदीय-मन्त्राणाम् ऋगादिवेदत्रयेऽन्तर्भावेऽपि तदन्येषामृगादिवेदेष्वनन्तर्गतानां शेषाणामथर्ववेदीयमन्त्राणां छन्दःपदेन बोधनाय 'छन्दांसि' पदस्यार्थः-अथर्ववेद इत्येव संभवति ।

ननु छन्दांसीति पदस्य मुख्यार्थबोधकत्वे सति गायत्र्याद्यर्थो भविष्यति न तु अथर्ववेद इति चेत् तदपि न, 'छन्दोभ्यः समाहृत्य

हुये 'ऋचः' आदि शब्दों की भी व्यर्थता का प्रसंग उठ खड़ा होगा और इनकी व्यर्थता मानने पर अन्य कोई इष्टापत्ति की संभावना नहीं है । अतः उन तीनों वेदों के नाम का बोध होने पर उनकी समीपता से 'सहिचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इस न्याय्य परिभाषा से छन्दः पद के द्वारा अथर्ववेद का ही ग्रहण करना सर्वथा समीचीन और सार्थक है ।

छन्दांसि इस पद को सामानि का विशेषण मानकर गायत्री आदि छन्द ही अभीष्ट होने चाहिये यदि ऐसा माना जाय तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सभी वेद ही छन्दोमय हैं, अतः ऐसा मानने पर छन्दांसि विशेषण लगाना ही व्यर्थ और पुनरुक्त हो जायेगा । तथा च 'जज्ञिरे' क्रिया के पृथक् पढ़ने से भी 'सामानि' का विशेषण नहीं हो सकता और न छन्दांसि पद गायत्री आदि छन्दों का ही बोधक हो सकता है । अतः उभयाभाव में ऋगादि के सजातीय वेद अथर्ववेद का ही छन्दांसि पद (बोधक) ग्राहक है ।

यहां पर यदि कोई यह कहे कि छन्दांसि पद मुख्यार्थ का बोधक होने पर गायत्री आदि छन्दों का ही बोधक होगा सोभी ठीक नहीं, क्योंकि 'छन्दोभ्यः

समम्नाताः' इति स्थले यास्काचार्येण छन्दः पदेन वेदार्थस्यैव ग्रहणात्। अपि च व्याकरणे 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' अयस्मयादीनिच्छन्दसि, छन्दसि लुङ्लङ्लिटः इत्यादिषु बहुषु स्थलेषु छन्दः-शब्दस्य, वेदरूपस्यैवार्थस्य ग्रहणात्। तथा च नहि केनापि ऋषिणा वेद-भाष्यकारेणाऽत्र छन्दःपदेन ब्राह्मणार्थो गृहीतोऽस्ति। आचार्य-सायणेनापि 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपम् (तै० सं० १०।६) इत्यादि-भाष्ये 'यः प्रणवो वेदानां मध्ये ऋषभः इत्युक्त्वा छन्दसामित्यस्य पदस्य वेदानामित्येवार्थः उपात्तः।

अपि च अथर्ववेदस्य दन्त्योष्ठ-विधिनामके ग्रन्थे छन्दः पदेन केवलमथर्ववेदस्यैव वाच्यता

यथा—छन्दस्यध्ययने प्राप्ते, विदुषामथ धीमताम्।
वकार-संशयो नित्यं, स्पष्टं दन्त्यमिति स्म ह॥

अपि च महामहोपाध्यायः पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदोऽपि छन्दः-पदेन अथर्ववेदस्यैव ग्रहणं विधत्ते। गोपथब्राह्मणे तेन "अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं, तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांसि आपस्स्थानम्" इति स्थले छन्दांसि-पदेन अथर्ववेद इत्यर्थः उपात्तः। अथापि बृहदारण्यकोपनिषदि "यद्येवं किञ्चर्चो यजूंषि सामानि छन्दासि "इति स्थले छन्दः पद-

समाहृत्य...इस स्थल पर आचार्य यास्क ने छन्द; शब्द का अर्थ वेद ही किया है। और व्याकरण में भी षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा इत्यादि अनेक सूत्रों में छन्दः पर से वेद रूप अर्थ का ही ग्रहण किया जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी विशेष महत्त्व की बात है कि किसी भी वेदभाष्यकार ऋषि ने इस स्थल पर छन्दः शब्दः का ब्राह्मण अर्थ नहीं किया है।

आचार्य सायण ने भी 'यश्छन्दसाम्......(वै० सं० १०।६) के भाष्य में 'जो प्रणव वेदों में ऋषभ के समान है' कहकर छन्दसां' पद का अर्थ वेद ही किया है।

इसी प्रकार अथर्ववेद की दन्त्योष्ठविधि नामक पुस्तक में छन्दः शब्द केवल अथर्ववेद का ही वाचक है जैसेकि—'छन्दस्यध्ययने प्राप्ते' स्थल में स्पष्ट है और महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने छन्दः पद से अथर्ववेद का ग्रहण किया है, गोपथ ब्राह्मण के 'अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं...इत्यादि स्थल में छन्दांसि पद से अथर्ववेद अर्थ ही लिया है।

मथर्ववेद-परम्। अतः धन्य-धन्येन महर्षि-दयानन्देन छन्दांसि इति पदेन चतुर्थस्याथर्ववेदस्य ग्रहणं कृतं तत्सर्वथा प्रामाणिकं संगतं समीचीनं च। अयं तु वेदार्थ-पारिजातकृत् करपात्री वेदार्थ-प्रक्रियानभिज्ञः सर्व-विद्वद्भ्यः पृथक् स्वीयं विश्वनाथ-मन्दिरं रचयति। नैकेनापि विदुषा छन्दः-पदेन इह ब्राह्मण-ग्रन्थस्य ग्रहणमकारि। तदेवं करपात्रिकृतं निर्मूलम् ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकाखण्डनं ध्वस्तं विलोक्य निर्मलोक्तिरियं संगच्छतेः—

यथा सलिल-धाराभिः बालुकाकृतभित्तिकाः।
धराशायित्वमायान्ति करपात्रगिरस्तथा॥
युक्तयुक्तिवियुक्तास्ताः दम्भाधार-विनिर्मिताः।
तर्क-प्रमाण-तायैस्तु हताश्चुम्बन्ति वै धराम्॥

४८५ तमे पृष्ठे २ येऽनुच्छेदे "जज्ञिरेऽजायत इति क्रियाद्वयं वेदानामनेक विद्यावत्त्व-ख्यातनार्थमिति तदपि निर्मूलं, बीजमन्तरा उत्पत्त्यथिकायाः जनेरनेकविद्यावत्त्वबोधनेऽशक्तेः इति" यदुक्तं करपात्र महोदयेन तदपि अनर्गल-प्रलपितम्। यतोहि तन्मन्त्र-व्याख्याने महर्षि-

बृहदारण्यकोपरिषद् मे भी 'यद्यवं किचर्चो यजूषि'... इत्यादि स्थल में भी छन्दः पद अथर्ववेद का वाचक है। इसलिये अत्यन्त धन्य महर्षिदयानन्द ने छन्दांसि पद से जो अथर्ववेद का ग्रहण किया है, वह सर्वथा प्रामाणिक सुसंगत एवं समीचीन है, अब अधिक प्रमाण चर्चा की आवश्यकता नहीं। वेदार्थ की प्रक्रिया से अपरिचित ये विचारे वेदार्थ पारिजात के बनाने वाले करपात्री जी ने तो सब विद्वानों से पृथक् ही अपना विश्वनाथ का मन्दिर बना डाला है। यहां पर तो 'निर्मला की यह उक्ति चरितार्थ होती है—जिस प्रकार जलधाराओं के पड़ने से जैसे बालू की भित्तियां धराशायी हो जाती हैं उसी प्रकार करपात्री जी की वाणियां ध्वस्त हो गई हैं क्योंकि वे युक्तयुक्तिओं और प्रमाणों से शून्य हैं और दम्भ के आधार पर खड़ी की गई हैं वे अब इन तर्कप्रमाणों के जलों से कटी हुई धरती को चूम रही हैं।

वे० पा० के पृ० ४८५ के दूसरे अनुच्छेद में "जज्ञिरे तथा अजायत एक ही धातु के दो रूपों का प्रयोग वेदों के अनेक विद्यावत्व के प्रकट करने के लिये किया है, वह भी निर्मूल है (क्योंकि) बिना बीज के उत्पत्त्यर्थक जन् धातु की अनेक विद्यावत्व रूप अर्थ-बोधन में सामर्थ्य नहीं है" यह भी,

दयानन्देन 'जज्ञिरे'ऽजायत 'तस्मात्' इति पदानां पुनरुक्तिदोषोद्भावन-संभावनायां तन्निरासायेदं समाधानं प्रस्तुतम्। यथैकः गुरुः विभिन्नैः सरलैः पौनः पुन्येन रूपान्तरितैः स्पष्टार्थमुच्चारितैः शब्दैः वाक्यैश्च शिष्यमध्यापयति, तथैव गुरूणां गुरुः परमेश्वरः सरलया रीत्या मनुष्यान् 'तस्मात् परमात्मनः 'छन्दांसि जज्ञिरे' समुत्पन्नान्यभूवन्, 'यजुस्तस्मादजायत' यजुर्वेदोऽपि तस्मादेव परमात्मनः उत्पन्नोऽभवत्, इति बोधयति।

ननु सकृदुच्चारणेनाऽपि तदर्थस्यैवाभ्युपगमो जायेत, किमर्थं पौनः पुन्येन तस्यैव धातोः प्रयोगः ?

इति चेत् समाधीयते, क्रियायाः जनिधातोः, तस्मादिति पदस्य च अभ्यास-पठनं वेदानां बहुविद्यावत्व-सूचकं, 'तस्मात्' इत्यनेन च परमेश्वरादेव तदुत्पत्तेरवधारणञ्च। तथा चाह यास्काचार्यः 'प्रतद्वोचेय' मित्यादिमन्त्र-निर्वचने 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' यथाऽहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीयेति। तट्टीकायां चापि दुर्गाचार्यः "शब्दाभ्यासे यत्रान्योऽपि

करपात्री जी का अनर्गलप्रलाप है, क्योंकि उस मन्त्र के व्याख्यान में महर्षि दयानन्द ने जज्ञिरे, अजायत और तस्मात् पदों की एकार्थक आवृत्ति से पुनरुक्तार्थ दोष की संभावना को हटाने के लिये उक्त समाधान किया है। जैसे कि एक गुरु भिन्न-भिन्न सरल और स्पष्ट वाक्यों से शब्दान्तरों में कहकर शिष्य को समझाने का प्रयत्न करता है उसी प्रकार गुरुओं के गुरु परमपिता परमात्मा ने भी एक ही बात को शब्दान्तर से कहकर समझाया है—उस परमात्मा से छन्द उत्पन्न हुये और उससे यजुर्वेद भी उत्पन्न हुआ।

यदि यहां यह कहा जाये कि एक बार ही शब्दोच्चारण से उसी अर्थ का बोध हो जायेगा उसी धातु का पुनः प्रयोग क्यों ?

यदि ऐसी बात है तो उसका समाधान यह है कि जन् धातु की क्रिया 'जज्ञिरे' और अजायत' का दो बार पठन वेदों के अनेकविद्यायुक्त होने का सूचक है और 'तस्मात्' पद से उसी परमेश्वर से ही वेदों के उत्पन्न होने का निश्चय होता है जैसा कि यास्काचार्य जी 'प्रतद्वोचेयम्' इस मन्त्र के निर्वचन में कहते हैं कि अभ्यास अर्थात् पुनः पठन से अर्थ का आधिक्य माना जाता है, जैसेकि अहोदर्शनीय अहोदर्शनीय, यह दो बार कहने से 'यह अत्यन्तदर्शनीय है'

शेषो नास्ति तत्रैवं विशेषमाचार्याः मन्त्रार्थ-तत्त्वविदो मन्यन्ते, यदुतार्थ-भूयस्त्वमिति, नहि अकस्मात् स एव शब्दः पुनरभ्यस्यते। लोकेऽपि चैतददृष्टं, शब्दाभ्यासेऽर्थभूयस्त्वमिति यथाहो दर्शनीयेति गुणातिशये हि शब्दाभ्यासः तस्मात्मन्त्रेष्वपि तद्वदेवेति न्याय्यम्।"

ननु चात्र क्रियार्थस्यैवाभ्यासभूयस्त्व-संभवः स्यादिति चेन्न, ऋचः सामानि, छन्दांसि इति बहुवचन-प्रयोगेण तदुद्दिष्ट जनिक्रिया—बहुत्वे वेदानामनेक-विद्यावत्त्व-प्रतिपादनव्यञ्जकत्वात्।

अथ च 'तस्माद्यज्ञात् इति मन्त्रे प्रथमप्रयुक्तेन 'तस्मात्' इति शब्देन पूर्वर्चवर्णितात् पुरुषादिति परामृश्यते। द्वितीयेन 'तस्माद्' इत्यनेन 'यस्मात्सर्वहुतः इत्येतस्य परामर्श एवेति अवधारणं व्यज्यते। तृतीयेन 'तस्मादित्यनेन' च परिपुष्टि लक्ष्यते।

'नोत्पाद्यभेदेन कर्तृ-सिद्धिरित्यप्यर्थेऽभिन्न एवार्थः निष्कृष्टो भवता। तदेवं हस्तं भ्रामयित्वा नासिकाग्रहणमकारि। अथ च भवता स्वप्रयुक्ताः धृष्टं, अयुक्तिकं, तुच्छं, बालभाषितमित्यादि-शब्दाः नृपनापित-पुत्र-न्यायेन बहु अमन्यन्त।

यह अर्थ निकलता है। इसकी टीका में दुर्गाचार्य इसी बात की पुष्टि करते हैं—शब्दाभ्यासेऽर्थ भूयस्त्वमिति अर्थात् शब्द की पुनरावृत्ति से अर्थ का आधिक्य प्रकट होता है अतः लोक-व्यवहार के समान वेद में भी शब्दों का आवर्त्तन है जो कि न्याय्य है।

यहां पर क्रिया का ही आवर्त्तन सम्भव है ऐसा नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ऋचः सामानि और छन्दांसि इनमें बहुवचन के प्रयोग से तदर्थ दी गई क्रिया 'जज्ञिरे' के बहुवचन में वेदों की अनेक विद्याओं के प्रतिपादन की की व्यञ्जना की गई है, तस्माद् यज्ञात् ……इस मन्त्र में प्रथमप्रयुक्त 'तस्मात्' इस शब्द से पूर्व ऋचा में वर्णित पुरुष (परमात्मा) से तात्पर्य है। तथा च द्वितीय 'तस्माद्' पद से 'यस्मात् सर्वहुतः' इसका परामर्श है अर्थात् उससे ही यह अवधारण निकलता है। तीसरे 'तस्मात्' पद से इसकी पुष्टि होती है। उत्पाद्य भेद से कर्त्ता की सिद्धि नहीं, इससे अभिन्न अर्थ ही आपने निकाला है। आपने तो इस प्रकार हाथ घुमाकर नासिका पकड़ने जैसी बात की है और अपने प्रयुक्त धृष्ट, युक्तिशून्य, तुच्छ बालभाषित आदि शब्दों को आप नृप-नापित-पुत्र न्याय से बहुत मान बैठे हो।

पृ० ४८६ तमस्य २येऽनुच्छेदे "यत्तु सर्वजगत्·······त्रेधा पद-निधानानुपपत्तेः" इत्यादि—स्थले "यज्ञो वै विष्णुरिति वचनोद्धरणेन यज्ञे विष्णत्वारोपेण न प्रसङ्गाभिप्रायपुष्टिः, यतो हि नहि यज्ञशब्दस्य व्यापकत्वमर्थः' इति यत् कथितं, तदपि नूनमज्ञत्व-द्योतकम्, यतः निघण्टौ भगवता यास्केन पञ्चदशसु यज्ञपर्यायेषु 'विष्णुरित्यपि शब्दः परिगणितः। तत्र च व्याख्यात्रा देवराजेन विष्णु-शब्दस्य सिद्धिः जुहोत्यादिगणस्थ-व्याप्त्यर्थक-विष्लृ-धातुना कृता।

अपि च तस्माद्यज्ञादिति मन्त्रे यज्ञरूपात् परमेश्वरात् सर्व-ज्ञान-संपन्नानां वेदानामुत्पत्तिरुक्ता। सा च सर्वज्ञादेव परमेश्वरात् संभवति। सर्वज्ञश्च सर्वव्यापक एव भवितुमर्हति। यो न सर्वव्यापकः नाऽसौ सर्वज्ञः अतोऽस्मिन् मन्त्रे यज्ञ-पदस्यार्थः सर्वव्यापक इति व्यज्यते। यज्ञ-रूपः विष्णुः सर्वदेव-पूज्यः, संगमनीयः सर्वव्यापकश्चेति निष्कृष्टम्।

यत्तु लेखकेन 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इति मन्त्रस्थेन, विचक्रमे पदेन अवतारवादस्य भूमिकायाः प्रस्तावनं कृतं, तत्तु तस्य स्वबुद्धेर्निष्कोषता-सूचनमेव। यतः न तेनाद्यावधि अवतारवाद-साधकः कोऽपि वैदिको मन्त्रः प्रस्तुतीकृतः। अथ च श्री पं० सामश्रमिणा 'ऐतरेयालोचने' 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इति मन्त्र-प्रसङ्गे (१६५ तमे पृष्ठे) सायणविषये लिखितं—"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् इत्युदाहरणभूतेन तेन सायणाचार्येण अनृतैतिहासिक-परतया व्याख्यानं कृतमिति।"

यदप्युक्तं श्री करपात्रिणा "इदं विष्णोः विक्रमबोधकं वचनं तत् निराकारस्य नोपपद्यते व्यापकस्य, त्रेधापद-निधानानुपपत्तेः" इति तदप्यज्ञानजन्यमेव, एतस्य मन्त्रस्य वास्तविकार्थस्य ज्ञानाऽभावात्। वस्तु-व्याख्यानम् अत्रोच्यते—स विष्णुः व्यापकः परमेश्वरः तस्य पृथिव्यादि-प्रकाशरहित, सूर्यादिप्रकाशसहितं परमाण्वादिसूक्ष्ममिति त्रेधापद-व्याख्यानं सुसंगतम्। अथापि १६६ तमे पृष्ठे ऐतरेयालाचने सोऽयमेक एव विष्णुः, पृथिव्या पाचक-दाहक-विद्रावक-जाठर-दाव-वाडव-गार्हपत्याहवनीय-दक्षिणेत्यादि-बहुविधाग्निरूपेणावतिष्ठते। अन्तरिक्षे विद्युद्रूपेण वाष्पाकारवायुरूपेण वा दिवि सूर्यरूपेणेति। तत्राऽस्य पार्थिवं रूपं सर्वाक्षिसाक्षिगोचरं, द्युस्थं सौरमपि रूपं सर्व—विदितं माध्यमिकं विद्युद्रूपं न हि स्थिरं दृश्यमस्ति। अतएवोक्तं, 'स्वपनमेतन्माध्यमिकं रूपमनित्य-दर्शनम् इति (निरु० ५।१।३)। वैश्वानर-व्याख्यायामेव अग्नि-विद्युदादित्यानां क्रमात् पृथिव्यन्तरिक्ष-द्युस्थानत्वमप्येकात्मकत्वमप्युपपादितं द्रष्टव्यम् (नि० ७।६।७)।

पृ० ४८६ के २ य अनुच्छेद में 'यत्तु सर्वजगत्···अनुपपत्तेः' इत्यादिस्थल में 'यज्ञो वै विष्णुः' इस वचन के उद्धरण से यज्ञ पर विष्णुत्वारोप से उस प्रसङ्ग का अभिप्राय पुष्ट नहीं होता क्योंकि यज्ञ शब्द का अर्थ व्यापक नहीं है, इस प्रकार करपात्री जी ने कहा है वह भी उनकी अज्ञता का द्योतक है। क्योंकि निघण्टु में यास्काचार्य ने यज्ञ के १५ पर्याय शब्दों में विष्णु शब्द को भी पढ़ा है और वहां व्याख्याकार देवराज ने विष्णु शब्द की सिद्धि जुहोत्यादिगण की विष्लु व्याप्तौ धातु से की है इसलिये यज्ञ और विष्णु के पर्यायवाची होने पर यज्ञ का भी अर्थ व्यापक निकलता है।

तथा च 'तस्माद् यज्ञात्' इस मन्त्र में परमेश्वर को सर्वज्ञान संपन्नवेदों का उत्पत्ति स्थान कहा है। सर्वज्ञ ही ऐसे वेदों का उत्पादक हो सकता है और सर्वज्ञ ही सर्वव्यापक हो सकता है अन्य नहीं, अतः सर्वदेवपूज्य सबके द्वारा सर्वत्र प्राप्य सवव्यापक वही यज्ञ-रूप विष्णु है ऐसा अर्थ सिद्ध होता है।

लेखक ने 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इस मन्त्र के द्वारा अवतारवाद की भूमिका का प्रस्ताव किया है, सो वह उसने अपनी बुद्धि का दिवालियापन ही सूचित किया है। क्योंकि उन्होंने अवतारवाद की सिद्धि में आज तक एक भी वेदमन्त्र प्रस्तुत नहीं किया है, इसके अतिरिक्त वैदिक विद्वान् श्री पं० सामश्रमी जी ने अपने ग्रन्थ ऐतरेयालोचन में सायण के विषय में बड़ा ही कमाल का लिखा है—'जिसकी अपनी स्वयं की बुद्धि नहीं है इस बात के उदाहरणभूत सायणचार्य ने 'इदं विष्णु विचक्रमे' मन्त्र का झूठा ऐतिहासिक व्याख्यान किया है।'

और करपात्री जी ने यह जो बात कही है कि—विष्णु का विक्रम बोधक-वचन निराकार और व्यापक परमात्मा में घटित नहीं होता क्योंकि निराकारत्व मानने पर परमात्मा का तीन प्रकार का पद का विधान संभव नहीं, सो यह भी अज्ञानजन्य ही है क्योंकि उन्होंने मन्त्र का वास्तविक अर्थ नहीं जाना।

इस विषय में विष्णु के त्रेधा पद विधान का व्याख्यान इस प्रकार है कि उस विष्णु ने पृथिव्यादिप्रकाश-रहित, सूर्यादिप्रकाश-सहित और परमाण्वादि-सूक्ष्मरूप, तीन प्रकार का अपना पदन्यास रूप कार्य का विधान किया है। सो

तदित्थमसौ एव प्रत्यक्षः सूर्यः त्रिलोकव्यापी ज्योतिःस्वरूपो विष्णुः न चास्य माध्यमिकत्व—स्वरूपदर्शनमस्तीति शाकपूणिमते सम्पन्नं विष्णु-विज्ञानमिति । अपि च ऐतरेयालाचने ११३ तमे पृष्ठे विष्णुरेते दाधार पृथिवीमभितो मयूखैः इति (तैत्ति० १।२।१३।२) इह विष्णुः सूर्य एव । बाल्मीकि-रामायणेऽपि—

एकेन हि पदा कृत्स्नां पृथिवीं सोऽध्यतिष्ठत ।
द्वितीयेनाव्ययं व्योम द्यां तृतीयेन राघव ॥ (बा० रा० १।३१।१९)

अत्रविषये श्री पं० सामश्रमिमहोदयानामैतरेयालाचने १९८ तमे पृष्ठे कृता टिप्पणी नूनमवधेया तथाहि—"अहो पौराणिक काल-माहात्म्यम् । अहो यज्ञपर-व्याख्यान मात्राध्ययनाध्यापन-माहात्म्यम् ।

निराकार परमात्मा में यह त्रेधा-पद-विधान संभव है । और ऐतरेयालोचन के पृ० १९६ पर सामश्रमी जी का कथन है :—एक ही विष्णु पृथिवी पर पाचक, दाहक, विद्रावक उदराग्नि दावाग्नि और बाडवाग्नि तथा गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणा इत्यादि बहुविध अग्निरूप से अवस्थित है । अन्तरिक्ष में वही विष्णु विद्युत्-रूप से द्यौ-लोक में सूर्यरूप से विराजमान है । इसका पार्थिवरूप और सूर्य सम्बन्धीरूप सबको सदा प्रत्यक्ष रहता है । माध्यमिक-विद्युत्रूप स्थिररूप से सदा दृश्य नहीं होता । इसलिये कहा है—"यह माध्यमिक स्वपनरूप अनित्य-दर्शन है (नि० ५।१।३) ।

वैश्वानर शब्द की व्याख्या में ही अग्नि, विद्युत्, आदित्य क्रम से पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युस्थानत्व एवं एकात्मत्व का उपपादन किया गया है ।

इस प्रकार वही प्रत्यक्ष सूर्य त्रिलोक में व्याप्त प्रकाशस्वरूप विष्णु है माध्यमिक का स्वरूपदर्शन नहीं होता है यह शाकपूणि के मत में विष्णु विज्ञान है ।

(ऐत० पृ० ११३) पर विष्णुरेते दाधार······इस तैत्तिरीय उपनिषद् के स्थल में विष्णु सूर्य ही है । बाल्मीकि रामायण में भी (१।३१।१९) में कहा गया है :—हे राघव वह विष्णु (सूर्य) एक चरण से समस्त पृथिवी दूसरे से आकाश लोक और तृतीय से द्युलोक में विराजमान है ।"

इस विषय में श्री पं० सामश्रमी जी की 'ऐतरेयालोचन' पृ० १९८ में की हुई टिप्पणी निश्चय ही ध्यान देने योग्य है । जैसेकि—अरे पौराणिक-युग की महिमा ! अरे यज्ञपरक व्याख्यामात्र अध्ययन और अध्यापन का माहात्म्य !

अहो बालानां कल्पिताख्यान-प्रियतानुगत्यम् । यदत्र सर्वब्राह्मण-निरुक्तादिकमालोचयताऽपि सर्ववेदभाष्यकारेण सायणाचार्येण व्याख्यातोऽयं मन्त्रः "विष्णुस्त्रिविक्रमावतारधारी" इत्यादिनेति । अथवा श्रयते एवैतत्—'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्' किंच ये वै सर्वशक्तिमतोऽपीश्वरस्य "परित्राणायसाधूनाम् (गी० ४।८) इति युगे-युगेऽवतरणं भवत्येवेति अवतार-कथायां विश्वासं कुर्वन्ति । विश्वसेयुश्च बाइबिल-कथिताऽति-श्रान्तेश्वर-विश्राम-वार-कथायामपि तादृशानां हि देवप्रियाणां एतादृशेऽथ कास्ति चित्रतेत्यलं प्रासङ्गिकानल्पभाषणेनेति ।

तदेवमत्र अवतारवादे विश्वसतां मनुष्याणां कृते देवानांप्रियतैव स्पष्टमेवोक्ता श्रीमता सामश्रमिणा । अतोऽत्र मन्त्रे विष्णु-शब्देन व्यापकस्य विष्णोः परमात्मनः सामश्रमिमते सूर्यस्य वा वर्णनं प्रमाण-समर्थितं संगतञ्चेति दिक् ।

वे० पा० ४८६ तमे पृष्ठे ३यानुच्छेदे—'यस्मादृचोऽपातक्षन्' इत्यस्मिन् मन्त्रे "यद्युत्पत्तिरेव विवक्षिता स्यात् तदा 'अपाकषन्' इति

अरे बालबुद्धि लोगों की कल्पित-कहानियों का प्रेम और उनका अनुगमन जो यहां सब ब्राह्मण और निरुक्तादि का पूर्णअध्ययन और अध्यापन करने वाले वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने 'इदंत्रेधा विष्णुर्विचक्रमे' मन्त्र की व्याख्या में विष्णु को त्रिविक्रमावतारधारी कह डाला । अथवा यह सुना जाता है कि 'ऋचोऽक्षरे परमेव्योमन्' अर्थात् परमात्मा की वे ऋचायें अविनाशी महान् आकाश में विद्यमान हैं आर क्या जिन्होंने सर्वशक्तिमान् परमेश्वर साधुओं की रक्षा के लिये युग-युग में अवतारवाद लेते हैं'—कथा में विश्वास प्रकट किया है ।

बाइविल में वर्णित, अत्यन्त-थकित ईश्वर के लिये विश्राम का दिन रविवार होता है—कथा में ऐसे ही मूर्ख लोग विश्वास करते हैं । इस प्रकार के विषय में आश्चर्य ही क्या है, अतएव इस विषय पर थोड़ा कथन ही पर्याप्त है । इस प्रकार यहां श्री पं० सामश्रमी जी ने अवतारवाद में विश्वास करने वालों के लिये स्पष्ट ही मूर्ख कहा है । इसलिये उक्त मन्त्र में विष्णु पद से व्यापक विष्णु अथवा सामश्रमी जी के मत में सूर्य का वर्णन प्रमाण-समर्थित और संगत है ।

वे० पा० पृ० ४८६ के ३ य अनुच्छेद में—'यस्मादृचोऽपातक्षन्' इस मन्त्र में यदि (वेदों की) उत्पत्ति के विषय में ही कहना है तो 'अपाकषन्' इस

धातुभेद-प्रयोगो निरर्थक एव स्यात्" इत्यपि वचनमसूयाजन्यमेव, यतो ह्ययम् असूयापहतात्मा गुणेष्वपि दोषानेवाविष्कुरुते, अतः 'सुन्दर-मणिमयभवने, पश्यति पिपीलिकारन्ध्रमेव इत्युक्तिश्चात्र संघटते। 'अपातक्षन्' 'अपाकषन्' इत्येताभ्यां द्वाभ्यामपि क्रियाभ्यां वेद-प्रादुर्भावार्थ एवाभीष्टः सामान्यतया तथापि "यस्मादृचोऽपातक्षन्"··· इत्यत्र अपातक्षन् क्रियया समुत्पन्नेषु ऋग्वेदमन्त्रेषु स्तुति—विद्यानां सूक्ष्मता समुपपादिताऽस्ति। 'यजुर्यस्मादपाकषन्-इत्यत्र च 'अपाकषन्' क्रियया सत्कर्मबोधकयजुर्ज्ञानस्य कषणे व्यवहारेण परीक्षणं सूचितम्। तदेवमत्र मन्त्रेऽनेक-धातु-प्रयोगः विभिन्न-विद्यानां द्योतनाय प्रशिक्षणाय चाऽस्ति। एकस्मिन्नार्थे विभिन्नधातुप्रयोगस्तु परमात्मना काव्य-सौष्ठवाय कृतोऽस्ति। ऋगादिवेदानां समुत्पत्तौ सामान्यतया न कश्चन प्रकारभेदः, अतः स्वामिदयानन्देन प्रादुर्भावरूपया क्रियया सोऽर्थः व्याख्यातः।

अत्र प्रसंगे तक्षणेन स्वरूप-निर्माणं कषणेन च चिक्कणतासम्पादन रूपमर्थं कुर्वता करपात्रिणा न न्याय्यं कृतं, यतोहि ब्रह्मणोंऽशांशिभाव-कल्पना त्वत्र निरर्थिकैव, यथा तक्षणं कषणं च काष्ठे संभवति न तथा—जगद्धारके परब्रह्मणि संभवति। अपि च "वस्तुतः कूटस्थे निरवयवे (ब्रह्मणि) तक्षणाद्यसंभवात् आरम्भ-परिणामाऽसंभवेन विवर्तोपादनत्वमेव ब्रह्मणो मन्तव्यमिति" (वे० पा० ४८७ पृष्ठे) स्वयमेव कथनेन सर्वोऽपि स्वीयबुद्धिव्यायामः स्वयमेव निष्फलीकृतः। ब्रह्मणः

धातु का प्रयोग निरर्थक ही है" सो यह कथन भी असूया-जन्य ही है 'सुन्दरभवने...' अर्थात् मणियों से बने हुये सुन्दर भवन में भी चींटी छिद्र को ही ढूंढती हैं, वाली उक्ति चरितार्थ होती है। यहाँ 'अपातक्षन्' और 'अपाकषन्' दोनों ही क्रियाओं से सामान्यतया वेदों के प्रादुर्भाव का अर्थ ही अभीष्ट है।

'यस्मादृचोऽपातक्षन्' यहां अपातक्षन् क्रिया से समुत्पन्न ऋग्वेदमन्त्रों में स्तुतिविद्याओं की सूक्ष्मता द्योतित है। 'यजुर्यस्मादपाकषन्' यहां 'अपाकषन्' क्रिया से सत्कर्म-बोधक-यजुर्वेद के ज्ञान के कषण में व्यवहार का परीक्षण सूचित होता है। इस प्रकार यहां मन्त्र में अनेक धातुओं का प्रयोग विभिन्न विद्याओं के द्योतन के लिये है। सामान्य रूप से अप पूर्वक तक्ष् धातु का, और कष् धातु का अर्थ है, प्रादुर्भाव। वही अर्थ महर्षि दयानन्द ने लिखा है। एक ही अर्थ में विभिन्न धातुओं का प्रयोग तो परमात्मा के वेद काव्य में काव्य-

समुत्पन्नान् वेदान् छलपूर्ण—वाक्य-जालेन पाशितान् कृत्वा नवीन-वेदान्त-विवर्तावर्ते पाठकान् भ्रामयितुं च प्रावर्तिष्टायं लेखकः अतोऽत्र नवीनवेदान्तमतमपि परीक्ष्यते।

वे० पा० ४८६ तमे पृष्ठे "ततो विशुद्ध-सत्त्वोपाधिक········ ब्रह्मरूपतैव विवक्षिता तेषाम्" अत्र हि करपात्रिणा स्कम्भ-शब्देन विशुद्धसत्त्वोपाधिक-चैतन्यरूपः ईश्वरः सर्व-जगदाधार-स्तम्भ-रूपेण व्यज्जते" इति लिखितम्। तत्रेदं परीक्षणीयं, कस्तावदीश्वरः? किं वा ब्रह्म? को वा जीवः? का च खलु प्रकृतिः? तत्र नवीनवेदान्तिनां मते शुद्धचैतन्यं ब्रह्म, विशुद्ध-सत्त्वोपाधिक ईश्वरः, अविद्योपाधिकं च ब्रह्म यदा कदा जीवो भवति, अर्थात् कार्योपाधि-सहितो जीवः। कारणोपाधि-सहितईश्वरः, मुक्तावस्थजीवश्च जीवः, माया प्रकृतिः, सा च द्विधा इत्यादीनि व्याख्यानानि विषयेऽत्र सन्ति। तेषां नवीन-वेदान्तिनां मते षट् पदार्थाः भवन्तिः—

सौष्ठव-प्रदर्शन के लिये है। परमात्मा के द्वारा चारों वेदों की उत्पत्ति में कोई विशेष प्रकार का उत्पत्ति-भेद नहीं है, अतः महर्षि दयानन्द ने भी सामान्य से वही प्रादुर्भाव रूप अर्थ किया है।

इस प्रसंग में 'तक्षण' से स्वरूप का निर्माण होता है और कषण से चिक्कणता का निर्माण' इस प्रकार का कथन करते हुये करपात्री ने अर्थ का अनर्थ कर डाला है।

ब्रह्म में अंशांशिभाव-कल्पना व्यर्थ है, और जिस प्रकार तक्षण (काटना) और कषण (छीलना) काष्ठ में संभव है उस प्रकार जगद्धारक परमात्मा में संभव नहीं। 'वास्तव में कूटस्थ और अवयवविहीन परमात्मा में तक्षणादि क्रियाओं का अभाव होने से आरम्भ और परिणाम की भी असंभवता से ब्रह्म का विवर्तत्व और उपादानत्व ही मानना चाहिये, इस प्रकार वे० पा० के पृ० ४८७ पर स्वयमेव कहने से लेखक ने अपनी बुद्धि का समस्त व्यायाम ही निष्फल कर डाला। यह लेखक ब्रह्म से प्रादुर्भूत वेदों को अपने छलपूर्ण वाक्य-जाल से बाँध करके पाठकों को नवीन वेदान्त के आवर्त (भंवर) में भ्रान्त करने को प्रवृत्त हो गया है, इसलिये यहां नवीन वेदान्तमत की भी परीक्षा की जाती है वेदा० पा० पृष्ठ ४८६ पर लिखा है कि "विशुद्ध सत्त्व को अपनी उपाधि बना-

जीवेशौ च विशुद्धाचिद्, विभेदस्तु तयोर्द्वयोः ।
अविद्या-तच्चितोर्योगः, षडस्माकमनादयः ।।

अत्र शुद्ध-सत्त्वप्रधाना माया, मलिन-सत्त्वप्रधानाऽविद्या ब्रह्म च अनाद्यनन्तम्, अन्ये शिष्टाश्च पदार्थाः सान्ता अनादय इति नवीनाः मन्यन्ते। परम् इदं सर्वं तर्क-निकषाऽसहम्, यतोहि ईश्वरस्य मायायाश्च सत्ता पृथक् मन्यते । मायासहितश्च चैतन्य ईश्वरः । तदेवं माया-चैतन्ययोः संयोगे कथमनादित्वमीश्वरस्य भविष्यति ? एवमेव जीवपक्षेऽपि अनादित्वे स्वीकृते भवतो मते सान्तत्वं न सेत्स्यति, अतः विशुद्धसत्त्वः कारणरूप-प्रकृत्युपाधि-मुक्तो जीवः ईश्वरः, मलिन-सत्त्वः कार्यरूप-प्रकृत्युपाधि-युक्तो बद्धो जीवः, एवं जीवस्य मुक्ति-बन्धरूपद्वयस्य प्रतिपादनेनाऽत्र संगतिः ।

कर वह चैतन्य स्वरूप ईश्वर सारे जगत् के आधार-भूत स्तम्भ के रूप में अभिव्यक्त होता है" यहां यह जानना चाहिये कि वह ईश्वर कौन हैं ? ब्रह्म कौन है ? कौन जीव है ? और कौन सी प्रकृति है ? इसका उत्तर है कि नवीन वेदान्तियों के मत में शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है, विशुद्ध-सत्त्वो-पाधिक ईश्वर है, अविद्योपाधिक ब्रह्म ही जीव बन जाता है अर्थात् कार्योपाधि सहित जीव और कारणोपाधि सहित ईश्वर है। मुक्तावस्था को प्राप्त जीव ईश्वर और बद्धावस्थागत जीव, जीव कहाता है। माया प्रकृति है, वही दो प्रकार की है इत्यादि व्याख्यायें इस सम्बन्ध में है। उन नवीन वेदान्तियों के मत में छः पदार्थ होते हैं—जीव, ईश्वर, विशुद्ध चैतन्य, उन दोनों का भेद, अविद्या और उसका तथा चैतन्य का योग ये पदार्थ हमारे मत में अनादि हैं।

यहां पर शुद्धसत्त्व-प्रधान माया और मलीन-सत्त्वप्रधान अविद्या है। ब्रह्म अनादि और अनन्त है तथा शेष सान्त और अनादि हैं। ऐसा नवीन वेदान्ती मानते हैं। परन्तु यह सारा व्याख्यान तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जबकि ईश्वर और माया की सत्ता पृथक् मानी जा रही है और माया के सहित ही चैतन्य ईश्वर है, जब इस प्रकार यहां पर इनका संयोग कहा गया तो अनादित्व कैसे सिद्ध होगा ? इसी प्रकार जीव-पक्ष में भी अनादित्व मानते हुये सान्तत्व कैसे सिद्ध हो सकेगा ? अतः वास्तव में तो विशुद्ध-सत्त्व अर्थात् कारणरूप-प्रकृति उपाधि से मुक्तजीव ही ईश्वर कहाता है, मलिन-सत्त्व अर्थात् कार्यरूप प्रकृति उपाधि से युक्त बद्ध ही जीव है। इस प्रकार जीव के

विज्ञानभिक्षुणाऽपि सांख्यप्रवचनभाष्ये मायावादस्य स्पष्टमेव खण्डनं व्यधायि यथा "यदपि केचित् नवीनवेदान्तिब्रुवाः आहुः एकस्यैवात्मनः कार्यकारणोपाधिषु प्रतिबिम्बानि जीवेश्वराः प्रतिबिम्बानां चान्योऽन्यभेदात् जन्माद्यखिलव्यवहारोत्पत्तिः, तदप्यसत्" एवंविशुद्धसत्त्वोपाधिर्माया तदुपहित ईश्वरो जीवः विशुद्ध-चैतन्यं च ब्रह्मेति त्रित्ववाद-सिद्धिरसंदिग्धा ।

अत्राऽयं प्रश्नः, किं ब्रह्म अविद्योपहितं भवितुमर्हति ? न चाविद्यावरणेन शुद्धं ब्रह्म, स्वरूपं विस्मर्तुं शक्नोति, अतः तदुपहित-कल्पना मिथ्या, आवरणञ्च द्वयोर्द्रव्ययोर्मध्ये अन्येन एव सम्भवति, यथा जीवब्रह्मणोः जीवस्य अल्पज्ञता आवरणं, परं न समवाय-सम्बन्धेन स्थितयो गुंण-गुणिनोर्मध्ये ब्रह्मणः ब्रह्मज्ञानस्य च आवरण-संभवः,

---

ही बन्धन और मुक्ति (रूप द्वय) का ही यहां प्रतिपादन समझकर संगति लग सकती है।

विज्ञानभिक्षु ने भी सांख्य-प्रवचन—भाष्य में मायावाद का स्पष्ट खण्डन किया है—जैसे कि "जो कोई नवीन वेदान्ती कहते हैं कि एक ही आत्मा का कार्य, कारण उपाधियों में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही जीव और ईश्वर है। प्रतिबिम्बों के परस्पर भेद के कारण से ही जन्म आदि समस्त व्यवहारों की उपपत्ति (संगति) होती है यह सब कथन असत्य है।" इस प्रकार विशुद्धसत्त्वोपाधिमाया (प्रकृति) उससे उपहित ईश्वर तो जीव तथा विशुद्धचैतन्य ब्रह्म, होने से त्रैतवाद की सिद्धि निर्विवाद है।

अब यहां यह प्रश्न होता है कि व्यापक अनन्त सर्वज्ञ-ब्रह्म क्या अविद्या से उपहित हो सकता है ? शुद्ध ब्रह्म अविद्या के आवरण-स्वरूप को कदापि नहीं भुला सकता अतः उसके उपहित होने की बात मिथ्या है। दो द्रव्यों के मध्य में किसी अन्य तृतीय के ही द्वारा आवरण संभव हो सकता है। जैसे ब्रह्म और जीव के मध्य में जीव की अल्पज्ञता ब्रह्म स्वरूप ज्ञान में बाधक हो सकती है किन्तु समवाय सम्बन्ध से स्थित गुण (ब्रह्मज्ञान) और गुणी (ब्रह्म) के मध्य में आवरण सम्भव नहीं क्योंकि ब्रह्म और उसके ज्ञान की विप्रकृष्टता (दूरी) नहीं है और इसमें दृष्टान्ताभाव भी है। आवरण की कल्पना से व्यापकत्व की क्षति होने की संभावना भी है। और श्रुतियों में जहां भी अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन है वहाँ शंकराचार्य के मत से सजातीय, विजातीय और

विप्रकर्षाभावात् दृष्टान्ताभावाच्च, आवरण-कल्पनया व्यापकत्व-क्षतेश्च। यत्र चापि श्रुतिषु अद्वैतं ब्रह्म प्रतिपादितं तत्र शंकराचार्य-मतेन सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदाभाव एव दर्शितः वस्तुतस्तु भेदत्रितये स्वगतभेदाभाव एव ब्रह्मणि घटते नान्यद्वयम् सूक्ष्मविवृतिस्तु यथाः— वटवृक्षोऽन्यवृक्षेभ्योऽन्यवटेभ्योऽपि भिन्न इति सजातीय भेदः।

विजातीयमृत्तिका-पाषाणादिभ्योऽपि भिद्यतेऽसौ इति विजातीय भेदः। पुनर्वृक्षस्वरूपेऽप्यवयव-शाखास्कन्धोपस्कन्धादि-परस्परभेदत्वात् स्वगत-भेदः, एवमेव गुण-क्रिया-भेदेऽपि योजनीयम्। इदमत्रावधेयं यदिदं भेदत्रयं शंकराचार्यमतानुसारं ब्रह्मणि न घटते। सजातीय-जीवेष्वपि ब्रह्म-भिन्नत्वात् तन्मते नायं भेदः संगच्छते। ब्रह्मणो विजातीय-जड़-जगतो भ्रान्ति-मूलकस्य वस्तुत्वाभावे न विजातीय-दोषोऽपि। निरवयवत्वात्स्वगतभेदाभावः निर्गुणत्वात् निष्क्रियत्वाच्च गुण-क्रिया-भेदाभावः, अतः शंकराचार्यस्योक्तकथनं न संगतम्।

तद् वयमपि ब्रह्मणि स्वगतभेदाभावं मन्यामहे, ब्रह्मणः निरवयत्वात्। परं सजातीय-विजातीय-भेदाऽभावो नास्माकमभिमतः ब्रह्मणः सजातीय-चेतनजीवानां ब्रह्म-सदृशत्वेऽपि ब्रह्मरूपत्वाभावात्,

---

स्वगतभेद का अभाव ही दर्शाया है। वास्तव में तो तीन भेदों में एक भेद, स्वगत-भेद-अभाव ही ब्रह्म में घटित होता है अन्य दो भेद घटित नहीं होते। सूक्ष्म-विवरण इस प्रकार हैं जैसे—बड़ का पेड़, अन्य पेड़ और अन्य बड़ के पेड़ों से भिन्न है, यह सजातीय भेद है। भिन्न जाति के मिट्टी पाषाण आदि से भिन्न है यह विजातीय भेद है।

पुनः वृक्षस्वरूप में भी अवयवभूत शाखा (स्कन्ध) तने और उपतने आदि का आपस में भेद होने से स्वगत भेद हुआ। इसी प्रकार गुणगत तथा क्रियागत भेदों को भी समझना चाहिये। ये तीनों भेद आचार्य शंकर के मतानुसार ब्रह्म में नहीं घटते। सजातीय जीव उनके मत में ब्रह्म से अभिन्न हैं अतः यह भेद घटित नहीं होता। विजातीयजड़ जगत् भी भ्रान्ति-मूलक है, इसकी वास्तविक सत्ता ये नहीं मानते, अतः विजातीय दोष का प्रश्न ही नहीं। ब्रह्म निरयव है अतः स्वगतभेद का अभाव भी है। निर्गुण और निष्क्रिय होने से गुण-गत और क्रियागत भेद का भी प्रश्न नहीं, अतः शंकराचार्य जी का उक्त कथन भी मिथ्या है। निरयव होने से ब्रह्म में स्वगत भेद के अभाव को हम भी मानते

भिन्नत्वाच्च सजातीयभेद एव। जगत्सत्तायाः मिथ्या-रूपत्वाभावे विजातीय-जडजगतो वस्तुसत्त्वात् विजातीय-भेदोऽपि।

ननु महर्षिदयानन्देनाऽपि ब्रह्मविद्या-प्रकरणे ऋग्वेदादि-भाष्यभूमि-कायाम् अतः स्वजातीय-विजातीय-स्वगतभेद—राहित्यमीश्वरे वर्त्तते एवेति लिखितमतो विरोधोऽत्रोत्पद्यते इति चेत् 'समाधीयते 'तत्र हि महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे···(अथर्व १०।३८) इति मन्त्रे परममहतो ब्रह्मणः सर्वपूज्यत्वं प्रत्यपादि। तत्रैषोऽभिप्रायो यत् 'न नित्या सती प्रकृति र्न वा सच्चिज्जीव आराध्यः, न वाऽपि 'न द्वितीयो न तृतीयश्चेति' इत्यादिमन्त्रैः द्वितीयस्य तत्तुल्यब्रह्मणः तदधिकस्य अत्यन्तनिषिद्धस्य वा सत्ता वर्त्तते। तस्मात्स एक एव सर्वशक्तिमान् आराध्यः, नान्यः कश्चित्समान—जातीयः विजातीयो वा परमेश्वरः, यथा हि पौराणिकाः अन्ये वा अनेकान् परमेश्वरान् कल्पयन्तीति।

हैं, किन्तु सजातीय विजातीय भाव हमें अयुक्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि सजातीय चेतन जीवों के ब्रह्म-सदृश होने पर भी ब्रह्मरूप के अभाव के कारण ब्रह्म से भिन्नता है।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के ब्रह्म-विद्या प्रकरण में—'इसलिये स्वजातीय, विजातीय, स्वगतभेद का अभाव ईश्वर में है' लिखा है सो यहां यदि पूर्वप्रकरण के साथ विरोध की उत्पत्ति संभावित हो तो उसका समाधान यह है कि—'महद यक्षं भुवनस्यमध्ये ····· इत्यादि अथर्ववेद के मन्त्र में परममहान् ब्रह्म का सर्वपूज्यत्व प्रतिपादन किया है। वहां यह अभिप्राय है कि यद्यपि सत् प्रकृति और सच्चित् जीव दोनों ही नित्य हैं, तथापि वे आराध्य नहीं तथा च 'न द्वितीयो न तृतीयः' इत्यादि मन्त्रगत भाव यह है कि तत्तुल्य अथवा तदधिक यदि कोई अन्य ब्रह्म संभावित भी हो, तो उसका भी अत्यन्त-निषेध जानना चाहिये। यदि कोई आराध्य है तो एकमात्र सर्व-शक्तिमान् सर्व-व्यापक ईश्वर ही आराध्य है अर्थात् समान-जातीय या विजातीय कोई भी ईश्वर आराध्य नहीं जैसे कि पौराणिक या अन्य लोग अनेक परमेश्वरों की कल्पना कर आराधना करते हैं। अतः सजातीय भेद घटित है जगत्सत्ता के मिथ्यारूप का अभाव होने से अर्थात् वास्तविक सत्ता होने से विजातीयभेद भी है।

यच्चाप्युक्तं भवता "ऋचो यजूंषि ब्रह्मणोंऽशभूतानि, तक्षणादिभिरुपादानांशस्यैव ऋगादिरूपेणाविर्भावात्" इति तदपि देवानांप्रियभाषितमेव, ब्रह्मणः सृष्टेरभिन्ननिमित्तोपादान-कारणात्वाऽभावात्। ब्रह्म हि केवलं निमित्त-कारणं, नोपादानकारणम्, उपादान-कारणस्य सर्वत्र सदा पारतन्त्र्यात् परिणामित्वाच्च निमित्तकारणंतु स्वतन्त्रम परिणामि च भवति, एकस्मिन् वस्तुनि द्विप्रकारक-विरुद्धगुण-सत्ताऽसम्भवात्, दृष्टान्तविरहितत्वाच्च न ब्रह्म सृष्टेरुपादान—कारणम्। सृष्टिदर्शनेनाऽपि ब्रह्मणः उपादानकारणत्वस्याप्रतिपत्तिः, सृष्टौ कारण-गुण-पूर्वकः कार्यगुणो दृष्ट इति नियमेन ब्रह्मणः गुणस्य चैतन्यादेरप्यापत्तेः, परञ्च न तद्गुण-चैतन्यज्ञानादि-दर्शनमुपलभ्यते सृष्टौ।

यच्च भागवतादौ नारायणरूपस्यैव वेदरूपेणाभिव्यक्तिरुक्ता, तेनाऽपि नोपादान-सिद्धिः, तदुक्तेरपि स्वयं साध्यकोटि-गतत्वात्। यच्चाभिहितं "ऋचां स्थौल्यं तदपेक्षया यजुषां सौक्ष्म्यम्" इति तु

यह जो आपने कहा कि—ऋग् यजुः ब्रह्म के अंशभूत तक्षण आदि के द्वारा उपादान के अंशरूप में आविर्भूत हुये हैं।' मूर्खों का प्रिय कथन ही है क्योंकि ब्रह्म सृष्टि का अभिन्न-निमित्तोपादान नहीं है। ब्रह्म केवल निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं, क्योंकि उपादान कारण सदा परतन्त्र और परिणामी होता है, निमित्तकारण स्वतन्त्र और अपरिणामी होता है। एक वस्तु में दो प्रकार के विरुद्धगुणों की सत्ता असम्भव है तथा इसमें दृष्टान्त का भी अभाव है अतः ब्रह्म सृष्टि का उपादान नहीं। सृष्टि के दर्शन से भी ब्रह्म की उपादान कारणता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि सृष्टि में, कारण गुणों के साथ ही कार्य का गुण होता है, इस नियम से जगत् में ब्रह्म के गुण चैतन्य आदि गुण की प्राप्ति होनी चाहिये परन्तु वह जड़ प्रकृति में दृष्टिगोचर नहीं होती।

और जो भागवत आदि में नारायण के रूप की वेद के रूप में अभिव्यक्ति की गई है उससे उपादानता की सिद्धि नहीं होती क्योंकि यह कथन स्वयं साध्य कोटि में है। और यह जो कहा गया है कि ऋचाओं की स्थूलता है और उनकी अपेक्षा यजुर्मन्त्रों की सूक्ष्मता है सो यह कथन भी शास्त्रों के यथार्थ की अनभिज्ञता से है क्योंकि वहां ऋचा आदि सभी मन्त्रों का सूक्ष्म-बुद्धि-गम्य-तत्त्व प्रतिपादन करना अभीष्ट है। जैसे कि कहा गया है कि प्रत्यक्षेण···इत्यादि

शास्त्रानभिज्ञत्वमेव, ऋचादीनां समेषामेव मन्त्राणां बुद्धिपर-सूक्ष्मतत्त्व प्रतिपादनाभीष्टत्वात्तत्रोक्तमेवम्, तथा चोक्तं सायणाचार्येण तैत्तिरीय संहिता भाष्योपोद्घाते।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा, यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन, तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

अर्थात् वेदेन प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त-विषयस्यापि बोधो भवति। आरम्भपरिणामौ तु त्रित्ववादस्वीकारे सत्येव प्रकृतौ एव सम्भवतः न तु ब्रह्मणि एतच्च भवताऽप्युपगतम्।

यदप्युक्तं "विवर्त्तोपादानत्वमेव ब्रह्मणो मन्तव्यम्" इतितु नवीन वेदान्तार्पितधियां बालधियामेव रुचिकरम्, ब्रह्मणि विवर्तस्यासंभवात्। विवर्त्तो हि नाम समानाकृतिगुण-वस्तुनि भवति। अपि च पूर्वं तस्य वस्तुनो ज्ञानमावश्यकं यस्यारोपः। यथा रज्जौ सर्पस्य भ्रमः, समानाकृति-गुणवद्वस्तुनो भ्रमसम्भवः न तु हस्तिनो वाजिनो वा तथा शुक्तावपि रजतस्यैव भ्रमसंभव न तु लौहसुवर्णादेः।

अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जो उपाय नहीं जाना जाता, उसको वेद से जानते हैं। यही वेद का वेदत्व है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय का भी बोध कराना।

इस प्रकार सब वेदों के द्वारा अप्रत्यक्ष का भी बोधन होता है। जैसी कि आपने आरम्भ और परिणाम की बात कही है सो ये दोनों त्रित्ववाद स्वीकार करने पर ही प्रकृति में घटित होते हैं न कि ब्रह्म में। ऐसा आपने स्वीकार भी किया है।

और यह जो कहा है कि "विवर्त और उपादान ब्रह्म को ही मानना चाहिये" सो यह भी बालबुद्धियों की ही बात है क्योंकि ब्रह्म में विवर्त असम्भव है समानाकृति और समान गुणवाली-वस्तुओं में ही विवर्त (भ्रम) होता है, रस्सी में ही सांप का भ्रम संभव है हाथी घोड़े का नहीं, इसी प्रकार सीप में चांदी का ही विवर्त्त संभव है सोने आदि का नहीं।

इस प्रकार यह अद्वैतवाद युक्ति और प्रमाणों से शून्य है वेदों में इसका कहीं समर्थन नहीं मिलता प्रत्युत वेद में जीव और ब्रह्म के अन्तर को स्पष्ट रूप से कहा है :—न तं विदाथ'···इत्यादि। उव्वट ने इस मन्त्र के भाष्य में स्पष्ट

तदेवं युक्तिशून्यः वेद-प्रमाणशून्यश्चापि एषोऽद्वैतवादो न क्वापि वेदे दृश्यते, प्रत्युत भगवान् वेदस्तु ब्रह्मजीवयोरन्तरं सुस्पष्टं व्याचष्टे तथा हि—"न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव" यजु० १७।३१। उव्वटोऽपि एतन्मन्त्रे भाष्ये स्पष्टमाहः—य इमानि भूत जातानि जजान, जनयति, उपसंहरति च अतः कारणात् युष्माकं तस्य च पुरुषस्य महदन्तरं बभूव। पुरुषो जनको यूयं जन्याः पुरुषो-भ्रामको यूयं भ्राम्याः इति। अपि च "अहं ब्रह्माऽस्मीति" भजतामाधुनिक-हिरण्य—कशिपूनां, अज्ञाननीहार-प्रावृतानाम् असुतर्प-यितॄणां, जल्पकानां, पण्डितम्मन्यानामसमुदाचारविचार एष, कथं तदा वेदोत्पत्ति र्मन्तव्या' इति प्रश्ने समुत्पन्ने व्यापकस्येश्वरस्य जीवाभ्यन्त-रास्तित्वेन अग्निवाय्वादित्यादिभिः निर्मलान्तःकरणवद्भिःऋषिभिः वेद-ज्ञानस्य ग्रहणसंभवः इत्युत्तरम्, मुखादिरूपकेंऽशांशिभावकल्पना तु तर्कतत्त्वविदां विदुषां न रुचिकरी। सदानन्दसंविदानन्दतरङ्ग-कल्पनमपि न संगतम् अक्षोभ्य एकरसे ब्रह्मणि आत्मनोऽज्ञानभाि तस्य आरोपादेव सर्वव्यापके ब्रह्मणि तरङ्गानुपपत्तेः। अत्र हि वेदार्थ-पारि-जाते हिन्दीभाषायामलेखि—वेदान्तसिद्धान्तशून्य स्वामी की समझ

कहा है कि —जिसने इन प्राणियों को उत्पन्न किया और इनका संहार करता है इस कारण तुम्हारे और उस पुरुष में महान् अन्तर है। पुरुष तुम्हारा उत्पादक है तुम उत्पाद्य हो। पुरुष भ्रामक है तुम भ्राम्य हो। तथा च गीता में कथित 'मैं ब्रह्म हूं' का भजन करने वाले, आधुनिक हिरण्यकशिपुओ अज्ञान के कुहरे से ढके हुये, प्राणपोषण में लगे हुये, जल्पना करने वाले, अपने को पण्डित मानने वाले लोगों का यह विचार सर्वथा अविचारित ही है।

फिर वेद की उत्पत्ति किस प्रकार माननी चाहिये इस प्रश्न के उत्पन्न होने पर, सर्वव्यापक ईश्वर के जीवों के हृदय में अस्तित्व होने से निर्मल अन्तःकरण वाले अग्नि वायु, आदित्य आदि ऋषियों के द्वारा परमात्मा के वेदज्ञान का ग्रहण संभव है अतः इस विषय में मुखादिरूप मानकर अंशांशिभाव की कल्पना करके वेदों की उत्पत्ति को मानना तर्कशील तत्त्ववेत्ता विद्वानों को कदापि रुचिकर नहीं हो सकता। परमात्मा के विषय में सदानन्द संविदानन्द तरगों की कल्पना करना भी, क्षोभ-रहित एकरस— सर्वव्यापक ब्रह्म में संभव नहीं। अपने अज्ञान से भासित का आरोप आपने ब्रह्म में माना है वह भी

से यह बात दूर है" तदपि बालबुद्धिजल्पनमेव। यतः महर्षिदयानन्देन नवीनवेदान्तसिद्धान्तिनां सिद्धान्तान् नास्तिकवन्निस्सार-कल्पना जल्पनामात्रं मत्वा तेषां यथायथं स्वग्रन्थेषु समालोचना कृता, तथापि मयेह किञ्चत्संक्षेपेण तत्समर्थने प्रस्तूयतेः—

तथाहिः—नवीनवेदान्तिनः ईश्वरस्योपादनतां' मन्यन्ते, तन्मते प्रकृतेश्चानङ्गीकारे कृते 'नाऽवस्तुनो वस्तुसिद्धिः' इति (सां० १।७८) सूत्रानुसारं न कदापि अवस्तुनः वस्तु-समुत्पत्ति-संभवः।

अपि च जगन्मिथ्यात्वे न तदभाव एव कल्पनोयः इतिवाच्यम्, 'अबाधाददुष्ट-कारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वं' (सां १।७९) इति सांख्य-सूत्र-विरोधापत्तेः। अपि च न अभावादेव भावोत्पत्तिः कल्पयितुं शक्या 'भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः' (सां० १।८०)" इति दर्शन-सिद्धान्त-विरोधापत्तेश्च।

नहीं। यहां पर वेदार्थ-पारिजात में हिन्दी टीका में यह जो कहा कि—वेदान्त-सिद्धान्तशून्य स्वामी (दयानन्द) की सूझ से ये बातें दूर है" यह भी बाल बुद्धि का नमूना है।

क्योंकि महर्षि दयानन्द ने नवीन-वेदान्त के सिद्धान्तों को निस्सार कल्पना मात्र मानकर, उनका यथा स्थान स्वग्रन्थों में खडंन किया है फिर भी कुछ लिखा जा रहा है जैसे कि नवीन-वेदान्ती सृष्टि में ईश्वर की उपादानकारणता मानते हैं, यदि वे प्रकृति की नित्यता को स्वीकार नहीं करते, तो नाऽ वस्तुनो वस्तुसिद्धि : (सां०१।७८) इस सांख्य सूत्र के अनुसार विना वस्तु से वस्तु की सिद्धि कैसे होगी ? अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होगी ? यदि कहो कि जगत् के मिथ्यात्व पर उसमें अभाव की कल्पना कर लेनी चाहिये, तो ऐसा कहना दोषपूर्ण होगा, क्योंकि भ्रान्ति निवृत्त होने पर रस्सी का सांप बाधित है, पर जगत् की प्रतीति बाधित नहीं और जगत् अदुष्ट कारण जन्य है, अतः अवस्तु नहीं। यदि कहो कि अभाव से भावोत्पत्ति मान लेनी चाहिये, तो यह कहना शास्त्र तथा बुद्धि के विरुद्ध है, क्योंकि भाव में उसके योग से ही सृष्टि की सिद्धि हो सकती है उसके अभाव में अभाव से सिद्धि नहीं हो सकती (सां०१।८०) जब कारण के गुण कार्य में अनि-वार्यतया आते हैं तब ब्रह्म को उपादान कारण मानने पर जड़ सृष्टि में चेतनत्व की प्राप्ति होगी तथा फिर भोक्ता और भोग्य पदार्थ का भेद क्या होगा ?

ब्रह्मणः उपादान-कारणत्वे स्वीकृते तु कारण-गुणानां कार्य-गुणेष्व परिहार्यत्वात् सर्ववस्तु-चेतनापत्तिः, भोक्तृ-भोग्य-पदार्थभेदाऽना कलनात् सृष्टेरसम्भवः, सर्वव्यापक-निराकार-ब्रह्मणः संयोग-वियोगाऽ शक्यत्वात् सृष्टि-प्रलययोरसम्भवश्च ।

न चेश्वरस्योपादान-कारणत्वे मतेऽपि तस्य नित्यत्वान् न कापि क्षतिःसंभाव्यते इति वाच्यम्, "नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाऽभावात्" (सां० ६।३३) परमात्मनः नित्यत्वेऽपि असङ्गबन्धन-हेतु-भूतोपरागस्य योग्यताऽभावात् न तस्य उपादानता-प्राप्तिः । प्रकृतेः परिणामित्वेऽपि नित्यत्वे एव तस्या उपादान-योग्यतायाः शास्त्र-प्रतिपादनात्, तथा च 'श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः' (सां० ६।३४) इति प्रमाणात् 'न तस्य कार्यमित्यादि श्रुतिविरोधात्, आत्मनः नित्यत्वे परिणामित्वे च स्वीकृते नः आत्मलाभ-संभवः ।

यदप्युक्तं (वे० पा० ४८८ तमे पृष्ठे) वेद-पदेन तु मन्त्र ब्राह्मण-समुदायस्यैव ग्रहणाद् इति, तत्तु केवलं याज्ञिकमापस्तम्बसूत्रमनुसृत्यैवोचितं भवितुमर्हम् । वस्तुतस्तु न ब्राह्मणानि वेदाः, ब्राह्मणानां तु वेद-व्याख्यानरूपत्वात्, न कदापि

जब कि 'चिदवसानो भोग; अर्थात् चित् रहित जड़ प्रकृति ही भोग है । और फिर सर्वव्यापक निराकार ब्रह्म से सृष्टि में संयोग-वियोग का अभाव होने पर सृष्टि और प्रलय भी असम्भव हो जायेंगे ।

यदि यह कहो कि ईश्वर को उपादान कारण मानने पर भी उसके नित्य होने से कोई क्षति नहीं है; तो यह कहना भी ठीक नहीं' क्योंकि ईश्वर के नित्य होने पर भी असङ्गबन्धनहेतुभूत उपराग की, योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती, (सां०६/३३) और प्रकृति के परिणामी होने पर भी उसके नित्य होने पर ही उपादानता की योग्यता शास्त्रों से प्रतिपादित है, जैसा कि 'न तस्य कार्यम्···इत्यादि श्रुति विरोध होने से आत्मा को परिणामी तथा नित्य मानने से आत्म लाभ नहीं हो सकता ।

वे० पा० के पृ-४८८ पर और यह जो कहा है कि वेद पद से मन्त्र ब्राह्मण समुदाय का ही ग्रहण है, सो केवल आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार ही ठीक हो सकता है, वास्तव में तो ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, क्योंकि वे तो वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ हैं । व्याख्यान ग्रन्थ कदापि मूल ग्रन्थ नहीं होता, जैसा कि

मूलग्रन्थ-व्याख्यानं मूलग्रन्थः भवति । तथा च सायणाचार्यः काण्व-संहिताभाष्ये "तत्र शतपथ-ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यारूपत्वाद्, व्याख्येय-मन्त्र-प्रतिपादकः संहिता-ग्रन्थः, पूर्वभावित्वात् प्रथमो भवति" इति ।

(क) तदेवं व्याख्यान—व्याख्येययोः नैकरूपत्वात् नैककालिकत्वाच्च न ब्राह्मण-ग्रन्थानां वेदत्वम् ।

(ख) चिरकालाद् वेद-पुस्तकेष्वेव वेद इति लिख्यते न ब्राह्मण-ग्रन्थेषु, अतो न ब्राह्मणं वेदः ।

(ग) यास्काचार्यस्य 'अथापीदमन्तरेण मन्त्रेषु अर्थप्रत्ययो न विद्यते' इति वाक्ये मन्त्रो वेद एव न ब्राह्मणम् । अपि च यास्कमते-ब्राह्मणेन (मन्त्राः) एव रूप-संपन्नाः विधीयन्ते न ब्राह्मणानि इति कारणात्, न ब्राह्मणानि वेदा : ।

(घ) अथापि महाभाष्यकारः पतञ्जलिः—'स्वरो नियतः आम्नाये अस्य 'वाम' शब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वपि आम्नाये नियता (म० भा० ५-२-५९) । यतोहि ब्राह्मणेषु आम्नायवत् वर्णानु-पूर्वी न नियताऽतो न ब्राह्मणानि वेदाः ।

सायणाचार्य ने काण्व-संहिता के भाष्य में कहा है :—शतपथब्राह्मण मन्त्रों का व्याख्यान रूप है, व्याख्येय, मन्त्रों का प्रतिपादक संहिता ग्रन्थ है । जो पूर्व होने के कारण प्रथम है, इस प्रकार व्याख्यान और व्याख्येय ग्रन्थ की एक रूपता और एक-कालिकता न होने से ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं ।

(ख) चिरकाल से वेद पुस्तकों पर ही वेद शब्द लिखा चला आ रहा है, ब्राह्मण पुस्तकों पर नहीं । अतः ब्राह्मण वेद नहीं ।

(ग) यास्काचार्य को—"इसके (निरुक्त के) बिना मन्त्रों में अर्थ का बोध नहीं हो सकता" इस वाक्य में मन्त्र से वेद ही अभीष्ट है ब्राह्मण नहीं तथा ब्राह्मणों के द्वारा (मन्त्र) रूप-सम्पन्न किये जाते हैं, इस यास्कीय कथन से मन्त्र और ब्राह्मण दो भिन्न पदार्थ हैं, एक नहीं ।

(घ) महर्षि-पतञ्जलि के कथनानुसार आम्नाय (वेद) में 'वाम शब्द का स्वर नियत है, वर्णानुपूर्वी भी निश्चित है । स्वर और वर्णानुपूर्वी ब्राह्मण ग्रन्थों में नियत नहीं होती, अतः ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं ।

(ङ) ब्राह्मण-ग्रन्थः स्वयमपि नात्मानं वेदत्वेन प्रतिपादयति, प्रत्युत विरुणद्धि तथाहि—यद् है के अन्वाहुः होता यो विश्ववेदस इति .... मानुषं ह ते यज्ञं कुर्वन्ति, व्यृद्धं वैतत् यज्ञस्य यन्मानुषम्, नेद् व्यृद्धं करवाणि ..... इत्यादि (शतपथ० २।३।४ । अत्र विश्ववेदस एव होता इत्युक्तम्, अथ च यो न विश्ववेदस स मानुषयज्ञः, मानुषयज्ञश्च न ऋद्धियुक्तः । तथा च शतपथे, अपरिवर्त्तनीयममानुषं मन्त्रं यज्ञे पठेत् ब्राह्मणे च मानुषमिति (शत०२।३।४।१३) । एतेन सिध्यति यत् मानुष-मन्त्र-प्रतिपादनात् ब्राह्मणानि न वेदाः ।

(च) वैशेषिक-दर्शने 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' । ब्राह्मणे च संज्ञा-कर्म-सिद्धि-लिङ्गम्' (वैशे० ६।१।१,२) इति सूत्रद्वये प्रथमे 'वेदे' इति द्वितीये च 'ब्राह्मणे' इति शब्दद्वय-प्रयोगाद् वेद-ब्राह्मणयोर्भेदः निर्दिष्टः । भेद-कारणादेव च महीदासादय : ऋषयः ऐतरेयादि-ब्राह्मणेषु वेदोक्त-संज्ञा-कर्मणोः निरूपणम-कुर्वन् ।

(छ) सर्वानुक्रमणिकायामपि:— 'विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः

(ङ) ब्राह्मण-ग्रन्थ अपने को वेद रूप में प्रतिपादित नहीं करता, अपितु इस बात का विरोध करता है । जैसे कि :—शतपथ में "होता विश्ववेदस होता है".....जो मानुष यज्ञ करते हैं, वे समृद्धि रहित यज्ञ करते हैं, समृद्धि रहित मानुष यज्ञ न करूं" इत्यादि तथा च अपरिवर्त्तनीय अमानुष मन्त्र को यज्ञ में पढ़े, ब्राह्मण में तो मानुष मन्त्र होता है" इस कथन से भी ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं ।

(च) वैशेषिक दर्शन में—वेद में बुद्धि-पूर्वक वाक्य की रचना होती है (८/१/१) तथा "ब्राह्मणों में वेदान्त संज्ञा, और कर्म का निरूपण, अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है" (वैशे.६/१/२) इन दो सूत्रों की भिन्न-२ रचना के कारण ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं । प्रथम सूत्र में वेदे और द्वितीय में "ब्राह्मणे' शब्दों का प्रयोग करने से वेद और ब्राह्मणों की भिन्नता सूचित है । तथा भेद के ही कारण महीदास आदि ऋषियों ने ऐतरेयादि ब्राह्मणों में वेदोक्त संज्ञा और कर्मों का निरुपण किया है ।

(छ) सर्वानुक्रमणिका में विनियोग के योग्य तीन प्रकार का (ऋग्यजुः

संप्रदर्श्यते । ऋग्यजुः साम रूपेण मन्त्रो वेद-चतुष्टये ॥ त्रयी विद्यामवेक्षेत, वेदे सूक्तमथाङ्गता' । नहि ब्राह्मणेषु ऋग्यजुः साम-रूपः मन्त्रः घटते, अतो न ब्राह्मणं वेदः ।

(ज) व्याकरण-महाभाष्ये गोपथ-ब्राह्मणे च सर्ववेदानां प्रथममन्त्राः समुद्धृताः अग्निमीडे ..... इषे त्वोर्जे ..... अग्न आयाहि ..... शन्नो देवी .....इति । अत्र चतुर्णामेव वेदानां मन्त्राः उद्धृताः यदि हि ब्राह्मणामपि वेदताऽभविष्यत् तर्हि तेषामपि कश्चिदंशः अवश्यं समुदधरिष्यत । अतो न ब्राह्मणानां वेदता ।

(झ) मन्त्र-ब्राह्मणयो र्वेदनामधेयमिति तु याज्ञिक-परिभाषा, ब्राह्मण-भागमिश्रित-कृष्णयजुः-शाखानां श्रौतसूत्र-परिशिष्ट-भाग-परिकल्पिता, ब्राह्मणग्रन्थानां रचना-कालात् परकालवर्तितया, ब्राह्मणमिश्रित—कृष्णयजुषश्च लोके वेदत्वाप्रसिद्धतया ब्राह्मण-ग्रन्थानां वेदत्वं साधयितु नालम् । एतत्परिभाषा-निर्माणकालात् पूर्वं नायं नियम आसीदित्यपि अर्थादापद्यते ।

(ञ) अपि च ब्राह्मण-ग्रन्थे स्वयमेव नामोल्लेख-पूर्वकं वेदाना-

सामरूपमन्त्र दिखाया जाता है तथा वेदों में त्रयी विद्या का अनुशीलन करें' कहा है, पर ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋग, यजुः साम रूप मन्त्र नहीं होता और न त्रयी विद्या होती है । अतः ब्राह्मण वेद नहीं ।

(ज) व्याकरण महाभाष्य और गोपथ ब्राह्मण में चार वेदों के प्रथम मन्त्र अग्निमीडे .....इषे त्वोर्जे .....अग्न याहि..... शन्नोदेवी .... उद्धृत किये हैं । यदि ब्राह्मण ग्रन्थों का भी वेदत्व होता तो उनके भी वेदवत् कुछ न कुछ अंश अवश्य उद्धृत किये होते ।

(झ) मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह केवल याज्ञिकी परिभाषा है, जो ब्राह्मणभागमिश्रित कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं के श्रौतसूत्रों के परिशिष्ट भाग में परिकल्पित है, और ब्राह्मणग्रन्थों के रचना काल से परकालवर्ती होने से तथा ब्राह्मण मिश्रित कृष्णयजुः के वेद रूप में लोक प्रसिद्ध न होने से ब्राह्मण ग्रन्थों के वेदत्व को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है । इस परिभाषा के निर्माण काल से पूर्व यह नियम नहीं था यह बात भी इससे निकलती है ।

(ञ) इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में नामोल्लेख पूर्वक वेदों की उत्पत्ति

मुत्पत्ति-वर्णनात् न ब्राह्मणानां वेदत्वं, तथाहि :—ऐतरेय ब्राह्मणे "तानि ज्योतींष्यभ्यतपत् तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त । ऋग्वेदएवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्........(ऐत०५।५।७)" इति । तदेवं यदा स्वयं ब्राह्मणग्रन्थोऽपि स्वं वेदेभ्यः पृथक् मन्यमानः वेदानामुत्पत्ति वर्णयति, तदा कथं नु नाम ब्राह्मणानां वेदतेत्यलं चर्चयानया ।

वे० पा० ४८८ तमे पृष्ठे 'मुखप्राणादि-साधनमन्तरापि तस्य (ईश्वरस्य) कार्यं कर्त्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादि शब्दोच्चारणं भवति, तथेश्वरेऽपि मन्यतामिति" महर्षि दयानन्देनोक्तम् । तत्र करपात्रिणः आक्षेपोऽयं:- कण्ठताल्वाद्यभिघातमन्तरा शब्दोत्पादनाऽसंभवात् । तस्य सर्वशक्तिमत्त्वेन तु वेदमन्तराऽपि तदुपदेश-संभवात्" इति । सोऽयं न युक्तः कथञ्चित् :—

ताल्वादि-स्थानाद्यभिघातमन्तराऽपि मनसि शब्दोत्पत्तिसंभवात्

का वर्णन है जैसे कि 'तानि ज्योतींषि' इत्यादि स्थल में वेदों की उत्पत्ति बतलाई है । इस प्रकार जब स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थ अपने को वेदों से पृथक् मानता हुआ वेदों की उत्पत्ति का वर्णन करता है, तब ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद किस प्रकार माना जा सकता है; अतः इस विषय में इतना ही पर्याप्त है ।

वे. पा. के पृ. ४८८ पर 'मुख प्राणादि साधनों के बिना भी ईश्वर के कार्य करने की सामर्थ्य सदा विद्यमान रहती है । विचारने के समय मन में प्रश्नोत्तर आदि में शब्दोच्चारण कण्ठ ताल्वादि के अभिघात के बिना होता है, उसी प्रकार ईश्वर में भी मानना चाहिए, महर्षि दयानन्द लिखित इससन्दर्भ पर लेखक का यह आक्षेप है कि "कंठ तालु आदि के अभिघात के बिना शब्दोत्पत्ति असंभव है, वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण वेद के बिना भी उपदेश कर सकता है ।" सो ऋषिदयानन्द के उक्त कथन के समर्थन में समाधान यह है कि ताल्वादि में अभिघात के बिना भी मन में शब्दोत्पत्ति संभव है अतः प्रत्यक्ष-प्रमाण के विरुद्ध यह आक्षेप है । इसके अतिरिक्त ईश्वर के सर्वशक्तिमान् तथा जीवों में व्यापक होने से, मुखादि अंगों के बिना भी जीवों के हृदयों में वेदोपदेश संभव है, ताल्वादिगत अभिघात की कोई आवश्यकता नहीं ।

प्रत्यक्षापलापानर्हत्वात् करपात्रिणः हेतुरयं व्यभिचरितः । अपि चेश्वरस्य सर्वशक्तिमत्वात् जीवेष्वपि च व्यापकत्वात् मुखाद्यङ्गान्यनपेक्ष्य जीवेषु वेद-विद्यायाः उपदेशस्य कर्त्तुं शक्यत्वात् न ताल्वाद्यभिघातस्य आवश्यकता । ताल्वाद्युत्पन्न-वर्णानामावश्यकता तु दूरस्थानेव परान् बोधयितुं भवति । स्वात्मबोधाय तु वाचो व्यापारमन्तरेणाऽपि व्यवहार-विचार-संचारो मनसि जायत एव । सच शब्दोच्चारण-ध्वनि-रहितोऽपि भवति । अपि चाङ्गुलीभिः कर्णौ पिधाय श्रोतुं शक्यते शब्दोद्भूतिः । अतोऽन्तर्यामी परमेश्वरोऽपि वेदविद्यां साधनमन्तराऽपि सम्यगुपदेष्टुमशक्नोत् । वस्तुतस्तु अविद्या-मोहावरणक्षये स्वात्मशक्ति-विकासे परमात्मनो ज्योतिः-प्रकाशे, आनन्दमय-कोषावाप्तौ पराबाणी—शब्दानुभूतिः ज्ञानमयी जायते, एतदग्रे पश्यन्त्याः मध्यमायाः वैखर्याश्च रूपं समुद्भवति । एवं चानन्तैकरस-जगद्-व्यापिनि परमात्मनि परावाणीरूपाः वेदमन्त्राः विराजन्ते । जीवात्मनश्च परमात्मना सह योगे तत्स्वाभाविक-गुणानन्देन साकं परा-वाण्याः अनुभूतिरपि संजायते ।

ईश्वर-प्रेरणया च ते अग्नि वायु वादित्यादयः ऋषयः तां वेदवाणीं वैखरी-वाण्या प्रकाशयन्ते । शंकराचार्योऽपि एतदेव पुष्णाति वेदान्त-भाष्ये तथा हि :—

ताल्वादि के अभिघात से उत्पन्न वर्णों की आवश्यकता दूसरों को बताने के लिए होती है, अपने लिये नहीं । अपने आत्मसम्पृक्त अन्तःकरण में तो वाणी के व्यापार के बिना भी विचारों का संचार होता ही है, वह ध्वनि की अपेक्षा नहीं करता । इसके अतिरिक्त कानों को अंगुलियों से बन्द करके भी शब्द की अनुभूति की जा सकती है । इसलिए अन्तर्यामी परमात्मा ने ताल्वादि साधन के बिना भी वेद-विद्या का उपदेश दिया ।

महाराज करपात्री जी, आपने यह जो तर्क प्रस्तुत किया है कि वेद बिना भी ईश्वर का उपदेश संभव था, सो इस तर्क को करके तो आपने देव-गुरु बृहस्पति को भी मात कर दिया । श्रीमान्जी, यहाँ आप इतनी बात भी भूल गये कि परमात्मा ने जो भी उपदेश किया है, उसी का ही तो नाम वेद है । अतः आपका यह कहना कि बिना वेद के भी परमात्मा का उपदेश संभव था, कितनी नासमझी की बात है ।

"अपि च चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठंस्तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात्तमर्थमनुतिष्ठतीति, सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दाः प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते" (वेदान्भा० १।३।२८)

अतः ताल्वादिस्थानमन्तराऽपि शब्दप्रादुर्भूतिरिति मतं सयुक्तिकं सप्रमाणं चेति सिध्यति। यदपि चोक्तं करपात्रिणा तस्मिन्नेव पृष्ठे—"तथात्वे सर्वशक्तिमत्त्वेनैव वेदमन्तराऽपि तदुपदेशसंभवात्, वेदस्याप्यानर्थक्य-प्रसङ्गात्" इति । तदपि नूनमविचारितोक्तमेव, यतो हि—

नित्यसत्तां स्वीकुर्वतामस्माकं मते नह्यत्र सर्वशक्तिमत्त्वादेव दृष्ट-कार्य-कारण-भावापलापोऽ भीष्ट : ।

वास्तव में उक्त विषय का समाधान यह है कि अविद्या, मोह के आवरण के नाश होने पर, जब आत्मशक्ति का पूर्ण-विकास होता है तब परमात्मा की ज्योति के प्रकाश में आत्मा के द्वारा आनन्द कोष की प्राप्ति पर ज्ञानमयी परा-वाणी की शब्दानुभूति होती है। इसके आगे पश्यन्ती फिर मध्यमा और फिर वैखरी वाणी का रूप उद्भूत होता है। अनन्त एकरस जगद्व्यापी परमात्मा में परा-वाणी-रूप वेद-मन्त्र सदा वर्त्तमान रहते हैं। जीवात्मा परमात्मा से मिलने पर, योग में उसके स्वाभाविक गुण आनन्द के साथ परावाणी की अनुभूति भी करते हैं। ईश्वर की प्रेरणा से अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा ऋषि उस वेद-वाणी को वैखरी वाणी से प्रकाशित करते हैं। आचार्य-शंकर ने वेदान्तभाष्य में इसी बात की पुष्टि की है जैसे कि—'अपि च' इत्यादि अर्थात् मनुष्य करने योग्य अभीष्ट अर्थ का अनुष्ठान करता हुआ, उस अर्थ के वाचक शब्द को पहले स्मरण करके फिर उसका अनुष्ठान करता है, यह हम सबको प्रत्यक्ष है। प्रजापति स्रष्टा को भी सृष्टि के पूर्व वैदिक शब्द प्रकट हुए थे तत्पश्चात् तदनुसार अर्थों की सृष्टि की ऐसा प्रतीत होता है। (वेदा. भा. १।३।२८) इसलिये ताल्वादि स्थान के बिना भी शब्द की प्रादुभूति हुई—मत सयुक्तिक और सप्रमाण है।

उसी ४८८ पृष्ठ पर यह जो कहा है कि—

'सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में बिना वेद के ही उपदेश देने का सामर्थ्य मान लिया जाय, फिर तो वेदों की कोई आवश्यकता ही न रह जायेगी।, यह भी

तस्य सर्वव्यापकत्वे सति सर्वशक्तिमत्वेन वेदोपदेशस्यात्मनि संभव एव। नवीन-वेदान्तिनां भवादृशां पक्षे तथाऽपलापो भवितुमर्हेत् नाम ! श्रीमन्, तस्य सर्वशक्तिमत्त्वे वेदमन्त्रान् विना कस्योपदेशस्य संभावना कल्पिता भवता ? वेदस्तु स्वयं भगवत आद्युपदेश : एव, तमन्तरेण कथंकारमुपदेशसंभूतिः ? सिद्धिदातुः साधन-मन्त्रान् बिना जीवानां कल्याण-साध्यताऽऽपादन-कल्पना "नासदुत्पादो नृश्रृङ्गवदि" तिवद् बालिश—जन-मनोरमैव। अनया तु वेदस्य सार्थकतायाः अभावोत्पत्तिरेव भविष्यति। सर्वशक्तिमत्त्वेन स्वमृत्यु-संपादनाऽक्षमत्वे सर्वशक्तिमत्त्व-विघात-कल्पनमिव, उक्तकल्पनायां हेत्वाभासतैव।

यदि परमात्मा स्व-सर्व-शक्तेः वेदप्रकाशन-रूपैक-सामर्थ्यस्य प्रकाशनं न कुर्याच्चेत्कुतस्तस्य सर्वशक्तिमत्ता उपयुज्येत । वेदमन्तराऽपि"

बिना विचारे ही कह डाला है, क्योंकि नित्य प्रकृति की सत्ता को स्वीकार करने वाले हम लोगों के लिए, यहां पर सर्वशक्तिमत्ता से दृष्ट-कारण कार्य भाव का अपलाप अभीष्ट नहीं है। सर्वव्यापकत्व होने पर वेद के उपदेश का ऋषियों की आत्मा में होना संभव ही है। आप जैसे नवीनवेदान्तियों के पक्ष में ही उसका अपलाप हो सकता है। भला आप यह तो बताइये कि परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता में वेदमन्त्रों के बिना आपने किस उपदेश की संभावना कल्पित की है ? वेद तो स्वयं भगवान् का आद्युपदेश ही हैं। उसके बिना किस प्रकार उपदेश की संभूति आपने की ? सिद्धिदाता ईश्वर के साधन मन्त्रों के बिना जीवों के कल्याण-साधन की कल्पना अभाव से भाव की कल्पना, (शश शृंग) के समान है, जो अविद्वज्जनों को हीमनोरम है। इससे तो वेद की सार्थकता ही खटाई में पड़ जायेगी। सर्वशक्तिमत्ता से अपनी मृत्यु-सम्पादन में असमर्थ होने से सर्वशक्तिमत्व के विघात की कल्पना के समान उक्त कल्पना में हेत्वाभास ही है। यदि परमात्मा स्व-सर्वशक्ति से वेदप्रकाशन-रूप एक सामर्थ्य का प्रकाशन न करे, तो सर्वशक्तिमत्ता का उपयोग भी कैसे हो ? "वेद के बिना भी" यह आपका कथन 'जगत् के बिना भी सर्वशक्तिमान् होने से सृष्टि की संभावना है" इस कथन के समान प्रलाप मात्र ही है, और वह परमेश्वर सृष्टि के सत्य-नियमों का असम्भव परिवर्तन भी नहीं कर सकता है, 'सहायक की बिना अपेक्षा किए हुवे ही परमेश्वर कर्म-संविधान में समर्थ है' यही सर्वशक्तिमत्व शब्द का अभिप्राय है।

इति भवत्कथनं जगदन्तराऽपि सर्वशक्तिमत्त्वेन सृष्टिसंभव इत्युक्तिवत्प्रलाप एव। अपि च परमेश्वरोप्यसम्भाव्यं सृष्टि-सत्य-नियम-परिवर्त्तनं कर्त्तुं न शक्नोति। "सहायान्तरमनपेक्ष्यैव परमेश्वरः स्वकर्माणि विधातुं शक्नोति" इत्येव सर्वशक्तिमत्त्व-शब्दाभिप्रायः। यदप्युच्यते—"ज्ञानेच्छा-कृत्यभावेऽपि जगदुत्पत्तिसिद्धौ जगत्कारणेन सर्वज्ञत्वासिद्धेश्च" इति। इह विचार-शीलानां ध्यानमाकृष्यते यत् कोऽस्ति प्रसङ्गोऽत्र 'ज्ञानेच्छा कृत्यभावेऽपि' इत्यस्य ? अथ च न मनुष्यस्येव ज्ञानेच्छाकृतयः परमेश्वरस्य, "स्वाभाविकी-ज्ञान-बल-क्रिया" चेति वचनेन परमात्मनः तेषां ज्ञानादीनां स्वाभाविकत्वात्।

सर्वव्यापकत्वात् सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वज्ञत्वाच्च, स्वाभाविक-ज्ञानादिभिरेव तेन परमात्मना जगदुत्पादितम्।

"जगत्कारणत्वेन सर्वज्ञत्वादिसिद्धेश्च" इत्यप्रतिभानलेखोऽयञ्च भवत्पक्षे एवापद्यते, अस्मन्मते तु नैमित्तिकत्वे सर्वज्ञत्व-सिद्धिरक्षतैव।

वस्तुतस्तु अत्र तवोक्तौ प्रकरण-समनामको हेत्वाभासः यथाहि 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः" (न्या० १।२।७) इति।

यह जो कहा जा रहा है कि "ज्ञान इच्छा और क्रिया के अभाव में भी जगत् की उत्पत्ति मानने पर तो परमेश्वर में जगत् की कारणता और सर्वज्ञता भी नहीं बनेगी" इस कथन पर मैं विचार-शीलों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं कि यहां पर "ज्ञान इच्छा और क्रिया के अभाव पर भी" इस कथन की क्या प्रासङ्गिकता और उपयोगिता है। और परमेश्वर की ज्ञान इच्छा और क्रियायें मनुष्य के समान तो नहीं होतीं। 'स्वाभाविकी-ज्ञान बल-क्रिया च' इस वचन से परमात्मा के ज्ञान आदि गुण स्वाभाविक हैं, पर हम लोगों के नैमित्तिक भी होते हैं। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ होने के कारण ही परमेश्वर ने स्वाभाविक ज्ञान आदि के द्वारा ही जगत् उत्पन्न किया है।

"जगत् के कारण होने से परमेश्वर की सर्वज्ञता प्रसिद्ध होगी" यह लेख प्रतिभाशून्य है। जो कि आपके पक्ष में ही घटित होता है; क्योंकि हमारे मत में परमेश्वर जगत्-रचना में निमित्त-कारण है, तो उसकी सर्वज्ञता सर्वथा अक्षत है। वस्तुतः आपकी इस उक्ति में प्रकरणसम नामक हेत्वाभास है।

नास्तिक-सन्निकाश-शेमुषीकेण भवता यदुक्तं "न च वेद-प्रामाण्यात्तथात्वसिद्धिरिति वाच्यम्, वेदस्य परमेश्वर-कारणत्वे एव विप्रतिपत्तेः। न चोक्तवचनात्तस्य वेदकारणत्व-सिद्धिः वेदप्रामाण्यसिद्धौ एव तस्यापि प्रामाण्यसिद्धेः।" इति, अत्रोच्यते :—ऋषि-दयानन्देन 'अनेकप्रमाणानि समुद्धृतानि परमेश्वरद्वारा वेदानां निर्मितौ, तदनभ्युपगमे भवता संदिह्यते, कथंचिदभ्युपगमेऽपि वेदप्रामाण्यं तु न स्वीक्रियते भवता।

वेदा ईश्वरोत्पादिता इति तु सायणादिभिरपि सम्मतम्, वेदानां स्वतः प्रामाण्येऽपि सायणस्य वचनं निभाल्यताम् तथाहि :—तैत्तिरीयभाष्य-भूमिकायामसौ "ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन वेदस्य वक्तृदोषाभावात् स्वतः सिद्धं प्रामाण्यं तदवस्थं, तस्माल्लक्षण-प्रमाण सद्भावात् विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाधिकार-सत्वात् प्राणाण्य सुस्थत्वाच्चेति" प्रोक्तवान्। कुमारिलभट्टैरपि "स्वतः सर्वप्रमाणानां प्राणाण्यमिति गम्यताम्" (श्लो० वा-१।२। ४६) इति प्रोक्तम्। वैशेषिकदर्शनेऽपि, 'तद्वचनात् आम्नायस्य प्रामाण्यमिति कथितम्।

नास्तिक सदृश बुद्धि वाले आपने जो कहा है कि "वेद के प्रमाण से भी यह नहीं हो सकेगा, क्योंकि अभी तो वेद परमेश्वर द्वारा निर्मित हैं, यही विवाद का विषय है। उक्त श्रुति के प्रमाण से परमेश्वर में वेद की कारणता मान ली जायेगी, यह भी संभव नहीं है, क्योंकि वेद का प्रामाण्य सिद्ध हो जाने पर ही उस वचन को प्रमाण माना जायेगा।"

इस विषय में मेरा कहना है कि परमेश्वर द्वारा वेदों की रचना में ऋषि दयानन्द ने अनेक प्रमाण समुद्धृत किये हैं, उनको स्वीकार न करके आप संशय में पड़े हुए हैं। कथंचित् स्वीकार भी कर लें तो वेद का प्रामाण्य आपको स्वीकृत नहीं है।

वेद तो ईश्वर ने ही उत्पन्न किये, यह बात सायण आदि आचार्यों की भी सम्मत है। वेदों के स्वतः प्रमाण होने में भी तैत्तिरीय-संहिता की भाष्य भूमिका में सायणाचार्य का कथन देखिये—'ब्रह्म की निर्दोषता से वक्ता के दोष के अभाव के कारण तथा लक्षण और प्रमाण होने से एवं विषय-प्रयोजन के सम्बधाधिकारी होने और प्रामाण्य के सुस्थिर होने से (वेदों का) स्वतः प्रामाण्य है। कुमारिलभट्ट ने भी सर्व प्रमाणों के प्रमाण वेद को स्वतः प्रमाण माना है। वैशेषिक दर्शन

वेदान्तदर्शनेऽपि "शास्त्रयोनित्वाद्' इति परमात्मनः वेदोत्पत्तिः प्रतिपादिता । अपि चास्मिन् विषये अथर्ववेदभाष्य-भूमिकायां सायणाचार्यः तार्किकमत-निरसन-पूर्वकं स्पष्टमाचष्टे "कार्यशक्तेरसति बाधके कार्यकारणादेव कार्येण सहोत्पत्तिरङ्गीकर्त्तव्या । अन्यथा वह्निगतायाः दाहकत्व-शक्तेरपि कारणान्तरादेवोत्पत्तिः स्यात् । वह्निश्च स्वाश्रयं दहन्नेव जायते, तत्सिद्धमेतत् स्वतः एव च वेद-प्रामाण्यम्" इति ।

.........ततश्च वेदानामपि अपौरुषेयत्वेन शब्दगत-गुणादोषाणां शङ्कनमपि कर्त्तुं न शक्यमतः स्वतएव प्रामाण्यमिति निरवद्यम्' इति । अपिच "कथंचित् प्रामाण्यसिद्धौ अपि" इत्युक्त्वाऽभ्युपेतव प्रामाण्यसिद्धि र्भवताऽपि । तदा च शतपथस्य 'एवं वा अरेऽस्य महत': इत्युक्तेः वेदोत्पत्ति-कथने चरितार्थत्वेन नाऽस्याः ज्ञापकता-प्रश्नः । व्यर्थत्वे सत्येव ज्ञापकत्वनियमात् । यच्च घटपटादिदृष्टान्तेन ज्ञानादीनां कर्त्तृ-पूर्वकत्वमिति प्रोक्तं तत्तु पूर्व-समाधानेनैव गतार्थम् ।

में भी 'ईश्वर के वचन होने के कारण वेद का प्रामाण्य है, ऐसा कहा है । इस विषय में आचार्य सायण तार्किक मत का खण्डन करते हुए अपनी अथर्ववेद-भाष्य भूमिकों में स्पष्ट लिखते हैं:—'कार्यशक्ति के बाधक न होने पर, कार्य के कारण से ही कार्य के साथ उत्पत्ति स्वीकार करनी चाहिये, अन्यथा अग्नि गत दाहकत्व शक्ति की भी कारणान्तर से उत्पत्ति माननी पड़ेगी और अग्नि अपने आश्रय का दहन करते हुए ही उत्पन्न होती है, अतएव वेद प्रामाण्य स्वत: सिद्ध है । और तब वेदों के अपौरुषेय होने से शब्दगत गुण दोषों की शंका भी नहीं की जा सकती । इसलिए उनका प्रामाण्य स्वत: सिद्ध है ।"

और महाराज आपने भी —'कथञ्चित् प्रामाण्य सिद्धावपि' इस प्रकार कथन करके वेदों की प्रामाण्य सिद्धि को मान ही लिया है । और जब शतपथ ब्राह्मण की 'एवं वा अरेऽस्य महतो निश्वसितं वेदा':—अर्थात् वेद परमात्मा के निश्वास रूप है' उक्ति वेदों की उत्पति के कथन में चरितार्थ हो गई, इसलिए ज्ञापक नहीं हो सकती, क्योंकि नियम यह है कि कोई भी उक्ति (वचन) व्यर्थ होकर ही ज्ञापक होती है ।

वे० पा० ४८९ तमे पृष्ठ १ मे अनुच्छेदे "कश्चित्तु—नैतावदेव किन्तु घटादीनां शरीरकर्त्तृकत्वेन प्रपञ्चस्यापि शरीरि-कर्त्तृकत्वमेव साध्यते" इति कथनेन स्वरोचन-सिद्धान्त-बोधनात् व्याजेन स्वबोधक एव 'कश्चित्' शब्दः करपात्रिणा प्रयुक्तः । यदि नाऽयं तदभीष्ट विषय, तर्हि कथं न खण्डन-पुरस्सरमुपपादितः।

ननु शरीरी एव प्रपञ्चस्य कर्त्ता इति चेन्न, साकारस्य परिमित-शक्तिमत्त्वात् शरीरस्य च देशकालवस्तुषु परिच्छिन्नत्वात्, क्षुत्पिपासाच्छेदन-भेदन-शीतोष्ण—ज्वर—पीडादि—संयुक्तत्वाच्चानर्हा, ईश्वरस्य साकार-कल्पना ।

अपि च स्थूल-शरीरः परमेश्वरः परमाण्वादि-सूक्ष्मपदार्थानां नियमन-क्षमता-विरहितः सन् न जगद्रचयितुं कथमपि क्षमः; । अतः निराकारेणैव व्यापकेन परमात्मना सर्वजगत्-प्रपञ्च-निर्माणं कृतमित्यवधेयम् । एतच्च "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वेता०३।१८) स पर्यगाच्छुक्रमकायम् (यजुः४०।८) इत्यादिप्रमाणैः सिद्धम् ।

वे. पा. पृ. ४८९ अनु. १ में 'कुछ लोगों का कहना है कि जैसे घट इत्यादि पदार्थों की रचना शरीरधारी करते हैं । उसी प्रकार जगत प्रपंच की रचना भी शरीर-धारी कर्त्ता के द्वारा ही साध्य है" इस कथन से आपके अपने रुचिकर सिद्धान्त कर बोधन हो रहा है। आपने (व्याज) बहाने से, आत्मविषयक 'कश्चित्' शब्द का प्रयोग किया है । वस्तुत: यह कश्चित् अन्य कोई नहीं है । यदि यह आपका स्वरुचित विषय नहीं है, तो आपने खण्डनपूर्वक इसका उपादन क्यों नहीं किया ? अच्छा शरीरधारी को ही प्रपंच का कर्त्ता मान लिया जाय तो क्या दोष होगा ? इसका समाधान यह है कि साकार ईश्वर के परिमित शक्ति वाला होने से, और शरीर के देश काल और वस्तुओं में परिच्छिन्न होने से नियमन-क्षमता से रहित होने पर वह जगत् की रचना में किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता । अत: निराकार एवं सर्वव्यापक ब्रह्म के द्वारा ही सम्पूर्ण जगत्प्रपञ्च का निर्माण किया गया है । यही निश्चित सिद्धान्त है । और वह ईश्वर, अपाणिपादो (श्वेता. ३.३।१९) सपर्यगात्छुक्रमकायम् (यजु० ४०।८) इत्यादि प्रमाणों से निराकार एवं सर्वव्यापक सिद्ध है ।

अपि च वेदार्थ-पारिजातस्य 'कश्चित्'………… इत्यादि-पूर्वोक्तेऽनुच्छेदे 'कश्चित्' इत्यस्य 'साध्यते' इत्यनया क्रियया व्याकरणादृशा न कथमपि अन्वयः घटते । यद्यत्र 'कश्चित्' इत्यस्य कर्त्तुः 'मन्यते' इति क्रियायाः अध्याहारः क्रियेत : सोऽपि दोष एव, अतोऽत्र उभयथाऽपि दोषापत्तिः चिन्त्या ।

यच्चोक्तं "बाह्यशब्द-ज्ञानमपेक्ष्यैव मानस-शब्द-संभवः" इति तु मुग्धमानस कल्पनमेव, पूर्वजन्मार्जित-संस्कारवतां बाह्यशब्दराशिम-जानतामपि बहुशाब्दप्रतिपत्तेः दर्शनात् उदरवह्निरभिलषेन्नाम बाह्यं भोजनं, परं परमार्थवतां मानस — शाब्दज्ञानानां मानसि-काध्यात्मिकभोजनाऽपेक्षा आन्तरिकी एव न बाह्या ।

वे० पा० ४८९ तमे पृष्ठे २येऽनुच्छेदे :—

"न चेश्वरोऽपि निरपेक्षो जगत्सृजति प्रकृतिपरमाण्वदृष्टादि सापेक्षत्वात्…………प्राण्यादिनिर्माणे प्रवर्त्तते" इति प्रसङ्गे विचार्यते यत् महर्षिदयानन्दलिखितस्य 'सर्वशक्तिमान् नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्त्तुं गृह्णाति" इत्यस्यायमभिप्रायोऽस्ति यत् यथा वयं

वेदार्थ परिजात के कश्चित्……इत्यादि पूर्वोक्त अनुच्छेद में कश्चित् इस कर्त्ता का 'साध्यते' इस क्रिया के साथ व्याकरण दृष्टि से अन्वय नहीं बैठता है । और यदि यहाँ इस कर्त्ता के लिए 'मन्यते' क्रिया का अध्याहार कर लिया जाय तो वह भी एक कमी ही है अतः इस वाक्य में दोनों प्रकार की दोषापत्ति चिन्त्य है ।

यह कथन भी मिथ्या है कि बाह्य-ज्ञान की अपेक्षा करके ही मानस शब्दों की संभावना है, क्योंकि पूर्वजन्मार्जित संस्कार वालों को बाह्य-शब्दराशि को बिना जाने हुए भी बहुत सा शब्द सम्बन्धी ज्ञान होता है । जठराग्नि तो अवश्यमेव बाह्य भोजन की अपेक्षा रखती है, परन्तु परमार्थ-सम्पन्न-मानस-शब्द-ज्ञान वालों के लिये मानसिक और आध्यात्मिक भोजन की अपेक्षा, अपने में ही रहती है न कि बाहर से ।

वे. पा. के पृष्ठ ४८९ के २ य अनुच्छेद में "ईश्वर भी प्रकृति परमाणु एवं प्राणियों के पूर्वजक्तमकृत कर्मों के सहारे जगत् की सृष्टि करता है" इस प्रसंग में यह विचारा जाता है कि ऋषि दयानन्द लिखित 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ है कि जो किसी अन्य की सहायता नहीं लेता, जैसे कि हम किसी

कार्यं कर्त्तुमन्यस्य सहायतामपेक्षामहे न तथा परमेश्वरः कस्यापि सहायतामपेक्षते । स एकाकी एव जगद्-रचनां विदधाति, परमाण्वादीनामुपादानकारणत्वेनापेक्षा नैव सर्वशक्तिमत्वे क्षतिमापादयति । एतदभिप्रायमन्यथा कृत्वा वे० पारिजातकृत् वचनविघातोऽर्थ-विकल्पोपपत्त्या" इति छायायां वाक्छलेन प्रस्तौति यत्—प्रकृतिपरमाण्वदृष्टादिसापेक्षता ईश्वरस्यापि जगत्सर्जने भवत्येवेति । महर्षिदयानन्देन तु ईश्वरो जीवः प्रकृतिश्चेति पदार्थत्रय मनादित्वेन मतम् । जीवानां च कर्मानुसारिणी सर्वा फलव्यवस्थेति स्वग्रन्थेषु प्रतिपादितम् । ग्रन्थविस्तरभिया नेह प्रतायते ।

नवीन-वेदान्तनिष्ठस्य करपात्र-महोदयस्य मते तु प्रकृते-रनादित्वनित्यत्वस्वीकारे द्वैतापत्तेः सिद्धान्त-क्षतिरेव जायते, ईश्वरस्य सृष्टि-निर्माणे पारतन्त्र्यं चापद्यते ।

वे० पा० ४८९ तमे पृष्ठे ८ मे अनुच्छेदे यदप्युक्तं "यथा पर्जन्येन धराजलानिल—बीजादिसापेक्षेणैवाऽङ्कुरो जन्यते, तथैव परमेश्व-रेणापि कण्ठताल्वादिसापेक्षेणैव वर्णा उच्चार्यन्ते" इति, तदपि

कार्य के करने के लिए दूसरे की सहायता चाहते हैं, वैसे परमेश्वर नहीं चाहता। वह तो अकेला ही संपूर्ण जगत् की रचना करता है । उस रचना में परमाणुओं की उपादानकारणता की अपेक्षा, उसकी सर्वशक्तिमत्ता में कोई कमी नहीं लाती । इसी अभिप्राय को अन्यथा करके लेखक ने अर्थ-विकल्प के द्वारा वचन-विघात करके वाक्छल से विषय को प्रस्तुत किया है कि 'ईश्वर को भी प्रकृति परमाणु आदि की अपेक्षा जगत्-सृष्टि में होती ही है ।"

ऋषि दयानन्द ने ईश्वर जीव और प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि माने हैं। जीवों के कर्मानुसार सम्पूर्ण फल-व्यवस्था होती है । यह सब विषय अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है, विस्तारभय से यहाँ अधिक नहीं लिखा जा रहा है ।

नवीन-वेदान्त-निष्ठा वाले करपात्री जी के द्वारा प्रकृति-परमाणवादि का अनादित्व व नित्यत्व स्वीकार करने में द्वैतापत्ति से सिद्धान्त की क्षति होती है तथा सृष्टि-निर्माण में ईश्वर की परतन्त्रता भी सिद्ध होती है ।

वे. पा. के पृ. ४८९ पं. १५ में "जैसे वृक्ष के बीज में पृथ्वी जल, वायु आदि की सापेक्षता से ही अंकुर बादल के द्वारा पैदा होता

न तर्क-ज्ञान-जन्यम्, पर्जन्यस्य परमेश्वरेण सह धरण्यादेश्च कण्ठताल्वादिना सह उपमानोपमेयतादेरघटितत्वात् । अहो इदमेवास्ति किं शास्त्रतत्त्वावगाहनपाण्डित्यं पौराण-पङ्क कलङ्क-निमग्न-मनसाम् ? तथैतद्दर्शितदिशाऽग्रेऽ प्यूहनीयम्, यथा पर्जन्यः उत्पद्यते किं तथेश्वरोऽप्युत्पत्तिधर्मा ? यथा चासौ नश्यति किं तथाऽयं परेशोऽपि ? अतो भवन्मतमिदं न्यायकषणे न सिध्यति खरम् ।

अपरञ्च, अङ्कुरजनित्वे उपादानकारणं बीजं, तच्च धरण्यामुप्तं भूमिजलेनानिलेनानुकूलेन साधनेन च जायते अङ्कुररूपे । वप्ता कृषको न चेत्, कथमपि नोत्पत्स्यते, अत्र यदि पर्जन्योऽपि न वर्षेत् भूमिजलेनैव सर्वं साधयितुं शक्यते । अत्र हि पर्जन्यः साधनं, करणं न कर्त्तृत्वेन कथमपि अङ्गीक्रियते तत्त्वविदा, परमेश्वरः उपादान-रूपया प्रकृत्या सर्वं जगत् सृजति ।, किमत्र भवतांमते पर्जन्यो निमित्तकारणम् ? वस्तुतोऽन्यथा-सिद्धमिदम् । अपिच 'वर्षा का जल' इति हिन्द्यनुवादे वाक्ये समासान्तर्गत-जल शब्दस्य पर्जन्येन सह कथमपि नान्वयः संघटते, अतः एतद् हिन्दी-वाक्य-रचनं चिन्त्यम् ।

है, उसी प्रकार परमेश्वर के द्वारा भी कंठतालु आदि की सापेक्षता से ही वर्ण उच्चारित किये जाते हैं" यह कथन भी आपके अज्ञान का द्योतक है, क्योंकि पर्जन्य का परमेश्वर के साथ और धरणी आदि का कण्ठ तालु आदि के साथ उपमानोपमेयभाव घटित नहीं होता । आश्चर्य है कि पुराणों के पङ्क कलङ्क में निमग्न मन वालों की क्या यही शास्त्रों के तत्व की अवगाहन कुशलता है ?इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

दूसरी बात यह कि अंकुर के उत्पन्न करने में उपादान कारण बीज है, वह पृथ्वी में बोया हुआ भूमि जल वायु और अनुकूल साधन से अंकुर के रूप में उत्पन्न होता है । यदि बोने वाला किसान न हो तो वह नहीं उत्पन्न होगा । यहाँ यदि बादल न भी बरसे तो भूमि के जल से ही सिञ्चन हो सकता है यहाँ बादल करण है न कि कर्त्ता, परमेश्वर प्रकृति-रूपी उपादान कारण से सब जगत् को बनाता है । क्या यहां पर आपके मत में बादल निमित्त कारण है ? वस्तुतः अन्यथा सिद्ध है । और हिन्दी अनुवाद में 'वर्षा का जल' समासान्तर्गत जल शब्द का बादल के साथ, किसी प्रकार अन्वय घटित नहीं हो सकता । अतः इस हिन्दी वाक्य की रचना चिन्तनीय है । और बादल भी स्वतन्त्र कर्त्ता

अपि च पर्जन्यो न स्वतन्त्रः कर्त्ता, नातो निमित्तकारणम् । चेतनः परमेश्वरस्तु स्वतन्त्रो निमित्तत्वेन जगद्-रचनायां प्रवर्त्तते, तथा चोक्तम् :—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव, विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव, विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥

गीता १३।१९

इत्येवं स्पष्टतया प्रकृतेरप्यनादित्वं साधित, मत्र तात्पर्य-रहितेऽपि शब्दजालेऽयमेवार्थो ध्वन्यते यत् मुखप्राणादि-साधन-मन्तराऽपि तस्य कार्य-करण-सामर्थ्यस्य सर्वथैव विद्यमानत्वमस्ति ।

यच्चोक्तं भवता 'न सर्वशक्तिमानपि परमेश्वरः बीजादिमन्तरा अङ्कुरादि-निर्माणे 'स्वातन्त्र्येण प्रवर्तते' इति किन्नैतेनापि भवता कण्ठरवेण प्रकृतेरनादित्वं स्वीकृतम् ? ननमयमेबाभिप्रायो महर्षे-र्दयानन्दस्यापि यत् 'जगद्रचने निमित्तकारणस्य ईश्वरस्य उपादान कारण-भूतप्रकृतेश्च स्वीकृतौ न स्वातन्त्र्य-विघातः । किञ्च भवाने-

---

नहीं अतः निमित्तकारण भी नहीं हो सकता । परमेश्वर तो स्वतन्त्र है और निमित्तकारण होकर जगत् की रचना करता है । जैसा कि कहा भी है:— प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जानो । विकार और गुणों को प्रकृति से उत्पन्न समझो ।'

इस प्रकार इस वचन से स्पष्ट रूप से प्रकृति का भी अनादित्व सिद्ध है । यहाँ तात्पर्यरहित आपके शब्द जाल में भी यही अर्थ ध्वनित होता है कि मुखप्राणादि साधन के बिना भी उसके कार्य करने की सामर्थ्य सर्वदा विद्य-मान है ।

और आपने यह जो कहा है कि सर्व शक्तिमान् भी परमेश्वर बीजादि के निर्माण में स्वतंत्रता से प्रवृत्त नहीं होता, क्या इस कथन से आपने, अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति का अनादित्व स्वीकार नहीं कर लिया ? महर्षि दयानन्द का भी यही अभिप्राय है कि—संसार की रचना में निमित्त कारण ईश्वर के उपादान कारणभूत प्रकृति के स्वीकार कर लेने पर भी स्वातन्त्र्य का विघात नहीं होता । दूसरी ओर आप इस उपादान से परमात्मा की पराधीनता का प्रतिपादन करने के इच्छुक हैं । परन्तु ईश्वर का ईश्वरत्व तो प्रकृति की सत्ता

तेनोपादानेन परमात्मनः-पराधीनतां प्रतिपादयितुकामः ? परन्तु तस्य परमेश्वरस्य परमेश्वरत्वं तु तस्य प्रकृतौ सत्यामेव सिध्यति, यथा राष्ट्र-सत्तायामेव विद्यमानायां राष्ट्रपतेः राष्ट्रपतित्वम् नान्यथा। यथा च करस्य पात्रस्य च सत्तायां विद्यमानायामेव कर-पात्रत्वं संभवति, नान्यथा।

अपिच परमात्मनः सर्वशक्तिमत्त्वात् प्रकृतेरुत्पत्तिः न कल्पयितुं शक्यते, उत्पाद्यमान-प्रकृतेः कल्पनायां तस्याअपि उपादानस्यापेक्षयाऽनवस्थादोषप्रसङ्गात्।' अथापि ईश्वरस्य सामर्थ्येनैव जगदुत्पत्तिः स्यादित्यपि न वाच्यं, निमित्त-कारणादन्यस्या उपादानतायाः अपरिहार्यत्वात्। सामर्थ्य-शब्देनोपादान-ग्रहणे तु समाधानसम्भवः।

ननु सामर्थ्यमीश्वरस्य गुणः तस्मादेव जगदुत्पत्तिः कल्पनीयेति-चेत्तदपि न, गुणाद्द्रव्योत्पत्तेरसम्भवात्। तस्मान् नित्यानादिप्रकृतेरेव

मानने पर ही सिद्ध होता है, जैसे कि राष्ट्र की सत्ता होने पर ही राष्ट्रपति का राष्ट्रपतित्व सिद्ध होता है अन्यथा नहीं; तथा कर एवं पात्र की सत्ता होने पर ही करपात्रत्व सिद्ध होता है अन्यथा नहीं, तथा च परमात्मा के सर्वशक्तिमान् होने से भी प्रकृति की उत्पत्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि उस कल्पना में भी अन्य उपादान कारण की अपेक्षा होने से अनवस्था-दोष आ जायेगा। अथापि ईश्वर की सामर्थ्य से ही जगद् की उत्पत्ति हो जायेगी, ऐसा भी कहना उचित नहीं; क्योंकि निमित्त कारण की अनिवार्यता आवश्यक है।

यदि सामर्थ्य शब्द से उपादानकारण का ग्रहण किया जाये तब यह समाधान संभव है। यदि सामर्थ्य को ईश्वर का गुण मानें और उससे जगत् की उत्पत्ति की कल्पना की जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि गुण से द्रव्य (जगत्) की उत्पत्ति असम्भव है। नित्य अनादि प्रकृति (अणुरूप) से ही संभव है इसीलिए (ऋग्वेद) में ऋषि दयानन्द ने सत्पति ईश्वर की व्याख्या की है कि 'सतां नाशरहितानां प्रकृत्यादिकारणद्रव्याणां पतिः सत्पतिरीश्वरः'

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'...मन्त्र के व्याख्यान में आपने जो अर्थ लिया है कि—ब्रह्मात्मक चैतन्य के बिना पाणि-पादादि और चक्षुः श्रोत्रादि कुछ नहीं कर सकते हैं' सो यह अर्थव्यञ्जना यहां नहीं है। यहाँ पर जवन-ग्रहीतृत्वादि

जगदुत्पत्ति-सम्भवः। अतएव ऋग्वेदे "यः सतां नाशरहितानां प्रकृत्यादि-कारण-द्रव्याणां पतिः सत्पतिः तं सत्पतिमीश्वरमिति महर्षिणा व्याख्यातम्।

अपि च 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादिव्याख्यानेन योऽर्थो गृहीतो भवता—'ब्रह्मात्म-चैतन्यं बिना पाणिपादादीनां चक्षुः श्रोत्रादीनाऽञ्चाकिञ्चत्करत्वादिति' स न कथमपि ध्वन्यते। अत्र जवन ग्रहीतृत्वादि-विशिष्टस्य परमपुरुषस्यैव प्रतिपाद्यताऽभीष्टा, न पाणिपादादि-सामर्थ्यस्य विधेयता। न चायं भवदथः केनाप्यन्येन विदुषा समर्थितः। तथा च 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (वेदा० १।१।५) इति सूत्रभाष्ये शंकराचार्येणोक्तम् "यदप्युक्तं प्रागुत्पत्तेः ब्रह्मणः शरीरादि-सम्बन्धमन्तरेण ईक्षितृत्वमनुपपन्नमिति, न तच्चोद्यमवतरति, सवितृ-प्रकाश वद् ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूप-नित्यत्वे ज्ञान-साधनापेक्षाऽनुपपत्तेः, अपि चाऽविद्यादिमतः संसारिणः जीवस्य ज्ञानोत्पत्तौ शरीराद्यपेक्षा स्यात्—न तु ज्ञान प्रतिबन्धकारणरहितस्येश्वरस्य, उपनिषदः मन्त्रौ चेमावीश्वरस्य

युक्त परमपुरुष परमात्मा की प्रतिपाद्यता है। कर पाद आदि की सामर्थ्य की विधेयता यहाँ अभीष्ट नहीं है और न आपका यह ध्वनित अर्थ और किसी विद्वान् ने निकाला है।

'ईक्षतेर्नाशब्दम् इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य जी ने कहा है कि— यह जो कहा जा रहा है कि उत्पत्ति के पहले शरीरादि के साथ सम्बन्ध के बिना ब्रह्म में ईक्षण कर्तृत्व अनुपपन्न है, इस आक्षेप का अवकाश नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान स्वरूप सूर्य के प्रकाश के समान नित्य है, अतः उसे ज्ञान के लिए साधनों की अपेक्षा नहीं हो सकती, और अविद्यादियुक्त संसारी जीव को ज्ञानोत्पत्ति में भले ही शरीरादि की अपेक्षा हो, परन्तु ज्ञान-प्रतिबन्धक-कारणों से ईश्वर को ज्ञान होने में शरीरादि की अपेक्षा नहीं, क्योंकि न तस्य कार्यं और अपाणिपादो इत्यादि दो मन्त्र ईश्वर की शरीरादि की अनपेक्षता और अनावरणज्ञानता को दिखलाते हैं। और आपकी हिन्दी में "सर्वशक्तिमान् होने मात्र से ब्रह्म बिना बीज आदि की सहायता से पत्र पुष्पादि तथा जीवों के निर्माण में प्रवृत्त नहीं होता।" यहाँ तो बीज आदि से आप जीवों की भी उत्पत्ति मान रहे हैं और उनका अनादित्व नहीं। यदि 'बीजादिना' से अविद्या अन्तर्गत है और उससे संयोग होने पर जीव निर्माण अभीष्ट है, तो संयोग के

शरीराद्यनपेक्षतामनावरणज्ञानतां च दर्शयतः 'न तस्य कार्यम् इति, 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता इति च।

यच्च हिन्द्यां भवदनुवादकेन लिखितम् "सर्व शक्तिमान् होने मात्र से ब्रह्म, बिना बीजादि की सहायता से पत्र, पुष्प, फल तथा जीवों के निर्माण में प्रवृत्त नहीं होता" अत्र तु बीजादिना भवान् जीवानामपि निर्माणं मनुते, न चानादित्वं तेषाम्।

यदि 'बीजादिना' इत्यत्र अविद्याप्यन्तर्गता, तस्याश्च संयोगे जीव-निर्माणमभीष्टं, तदा संयोगस्यारम्भात् वियोगस्याप्यनिवार्यत्वेन "जीवेशौ च विशुद्धाचित्" इत्यादिना प्रतिपादितं षण्णां पदार्थानामनादित्वं नवीन-वेदान्तिनां क्षतमेव स्यात्। अविद्यायाः अनादित्वे चाद्वैत-सिद्धान्तापत्तिश्च। परं त्रैतवादस्यानाद्यनन्तत्व-सिद्धान्तेऽङ्गीकृते तु न क्वापि काचिद्विप्रतिपत्तिः।

वस्तुतस्तु न जीवनिर्माण-संभवः तन्नित्यत्वात्। तथा च 'देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् (सां० ६।२) इत्यनेन उपादानात् शरीरकारणाद् व्यतिरिक्तस्यापरिणामिनो जीवस्य नित्यत्वम् अनुमानेन प्रमाणैश्च सिद्धम्।

आरम्भ होने से वियोग की अनिवार्यता में 'जीवेशौ च विशुद्धाचित्' इत्यादि नवीन वेदान्तियों के प्रतिपादित छै पदार्थों की अनादिता असिद्ध हो जायेगी।

यदि संयोग अनादि माना जाय तो अनन्तता भी अनिवार्य हो जायेगी, जो कि आपको अभीष्ट नहीं, और अविद्या के अनादित्व में अद्वैतसिद्धान्त में क्षति होगी, परन्तु त्रैतवाद के स्वीकार करने पर सब समाधान हो जाता है। वस्तुतः जीवोत्पत्ति संभव नहीं, क्योंकि वे नित्य हैं और 'देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् (सां ६।२) से उपादान शरीर-कारण से व्यतिरिक्त अपरिणामी जीव का नियत्व, अनुमान और प्रमाणों से सिद्ध है। वास्तव में कर्मों की सहायता से ईश्वर ने जगत् बनाया। जीव और प्रकृति की अनादिता और नित्वत्व स्वीकार किए बिना वेदान्तियों के सिद्धान्त, हवाई किले और आकाश पुष्प के समान आश्रयासिद्ध हैं। कर्म के बिना शरीर और शरीर के बिना कर्म, इस अन्योन्याश्रय दोष आने से उनका जगदुत्पादन असम्भव है। जीव और प्रकृति के अनादित्व और नियत्व में वासना के अनादि होने पर सृष्टि की प्रक्रिया संभव है, जिसे 'नैर्घृण्यादि,·· सूत्र की शांकर व्याख्या में नवीन वेदान्ती भी मानने को

अपि च वस्तुतः कर्मसहायतया परमेश्वरेण जगत्सृष्टम्। नवीन वेदान्तिनां मते तु तत्रासङ्गतिः, जीवप्रकृत्योरनादित्व-नित्यत्वाऽनङ्गीकारात्। न कर्म विना शरीरोपालम्भः न च शरीरं विना जीवस्य कर्मापादन-क्षमत्वम्, अतोऽन्योन्याश्रय-दोषात् जगतः उत्पादनाऽसम्भवः स्यात्, जीव प्रकृत्योरनादित्वे नित्यत्वे च जीवस्य अनादिवासनायाः बलवत्त्वात् सृष्टि-प्रक्रियायाः सम्भवः। तथाच "वैषम्य-नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् (वेदा· २।१।३४) इति सूत्र-व्याख्यायां शांकरभाष्ये "देवमनुष्यादि वैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येव असाधारणानि कर्माणि 'कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरः सापेक्षत्वात् न वैषम्य नैर्घृण्याभ्यां दुष्यति" इति मतम्।

अस्मदभीष्ट-जगत्स्रष्टुः सर्वव्यापकस्य ज्ञानचेष्टादान-स्वातन्त्र्यं सर्वत्राक्षतमेव; परमवतारवादिनाम् साकारस्य भगवतः उद्‌बोधन-जागरण-स्नान-चन्दनादिविलेपनाशनाद्यपेक्षत्वात्, जड-पूजा-परायणानां कर-पात्राधीनत्वमपरिहार्यमापतत्येव।

वे. पा. ४९० तमे पृष्ठे "यदपि ·· ·····निर्मीयन्त एव"

इत्यालोच्यते :— "ईश्वर-रचितवेदाध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यान् न चान्यथा" इति 'भूमिका पाठं बालभाषितं, सहस्रशो व्यभिचार-दर्शनात्। अद्यत्वे वेदाक्षरैरत्यन्त-

---

बाधित हैं। और वेदान्त (२।१।३४) सूत्र की व्याख्या में आचार्य शंकर ने लिखा है कि "देवमनुष्यादि की सृष्टि की विषमता में तत्तद् जीवगत कर्म असाधारण कारण हैं। इस प्रकार ईश्वर सापेक्ष होने से वैषम्यादि से दूषित नहीं होता।

हमारे अभीष्ट जगत्सृष्टा सर्वव्यापक परमात्मा का चेष्टा दान और स्वातन्त्र्य सर्वथा अक्षत है। पर जड़पूजापरायण अवतारवादी जनों को साकार भगवान् के उद्‌बोधन, जागरण, स्नान, चन्दनादि विलेपन तथा अन्नादि की अपेक्षा होने से, कर पात्र की भी अधीनता अपरिपार्य है।

वे० पा० ४९० पर···यदपि···इसकी आलोचना की जाती है।

"ईश्वर-रचित वेदों के अध्ययन के पश्चात् ही अन्य मनुष्य के द्वारा ग्रन्थ की रचना संभव है"। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका का यह कथन बच्चों की सी

मपरिचिताः सन्ति तैरपि संस्कृतादि-विविध-भाषामयाः ग्रन्थाः निर्मीयन्ते एव" इति यदाक्षिप्तं तत्तु कर पात्रि-महोदयस्यैव बाल-भाषितं, भूमिका पाठमित्यत्र नपुंसक लिङ्गं च चिन्त्यम् ।

गूढाभिप्रायज्ञंमन्यो लेखकोऽयं ऋषेरभिप्रायं नाधिगतवान् । भूमिका-पाठे अयमभिप्रायः यत् सृष्टेः आदौ परमात्मनः मनुष्योपकाराय वेदाः समाम्नाताः । कल्पादौ समुत्पन्नान् ऋषीन् 'परमेश्वरः वेद-विद्यां नोपादेक्ष्यच्चेत् ते नान्यान् मनुष्यान् अध्यापयिष्यन्, फलतः सर्वे एव मनुष्याः अविद्वांसोऽभविष्यन् ।

यथा कञ्चिन्मनुष्यं कश्चित् जन्मनः प्रभृति एकान्त-देशेऽविदुषां जनानां पशूनां वा साहचर्ये रक्षेत् तर्हि नाऽसौ विद्वान् भवितुमर्हेत् । कश्चिदपि परम्परया ज्ञाने प्रसृते प्रज्ञान-लवैरल्पमनल्पं वा पल्लवितं ज्ञानं कृत्वैव कस्याञ्चिदपि भाषायां ग्रन्थान् रचयितुं प्रवृत्तो भवति नान्यथा ।

भगवन् ! किं भवान् मनुते यद् वेदाः सृष्ट्यादौ परमात्मना ऋषिभ्यो न प्रादायिषत, तान् विनैव च संसारे ज्ञान-विकासः समभवद् इति ? अत्रोच्यते जीवानां स्वाभाविकं ज्ञानं बुद्धिः नैमित्तिकं ज्ञानं च विद्येति निगद्यते । विद्यां विना न बुद्धेर्विकास-सम्भवः । अतः अस्या एव विद्यायाः सर्गादौ आवश्यकता अभवत् । किञ्च ब्रह्माक्षर समुद्भवम् इति गीता वचन-व्याख्यायां शङ्कराचार्यैः "ब्रह्म, अक्षरः परमात्मा समुद्भवो यस्येति" ब्रह्म वेदाः परमात्मनः समुत्पन्ना इति प्रत्यपादयत् ।

अपि च निभाल्यतां तावद्बुधैः यदस्य वेदार्थ-पारिजात-लेखकस्य मतिः न विमृशति पूर्वापर स्ववचन-विरोधम्, यदयं सम्प्रदायावाप्त-वेद-राशि-रागालापको लिखति :—"वेदान्तिसम्मत ईश्वरो निश्वसितमिव बुद्धि-प्रयत्न-विशेषानपेक्षम् अकृत्रिमं वेदं निश्वासन्यायेन कल्पादावाविर्भावयति, अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेद (बृहदा० ३।२१४।१०) इत्यादि-श्रुतिभ्यः" इति । तदेवमिदमत्र संगच्छते बलात् यत् स्वयं लिखति परं स्वयं न वाचयति इति ।

बात है, क्योंकि इसमें हजारों दोष आते हैं । आज-कल वेद के अक्षरों से भी अत्यन्त अपरिचित व्यक्ति संस्कृत आदि के (विविध-ज्ञान से युक्त) भाषामय ग्रन्थ बनाते ही हैं, इस प्रकार ऋषि दयानन्द के लेख पर आपने जो आक्षेप किया है वह ही निश्चित बालवचन है, और 'भूमिका पाठ' शब्द में नपुंसक लिंग चिन्तनीय है ।

लेखक ने ऋषि के आशय को नहीं समझा । ऋषि का आशय यह है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने मनुष्यों के उपकार के लिये ही वेदों का प्रकाश किया । यदि सृष्टि के आदि में परमात्मा ऋषियों को वेद-विद्या का उपदेश न करता तो वे ऋषि अन्य मनुष्यों को न पढाते, फलतः सब मनुष्य अविद्वान् ही रह जाते ।

जैसे किसी मनुष्य को जन्म से सी एकान्तदेश में मूर्खों या पशुओं के संपर्क में रखा जाये, तो वह कभी भी विद्वान् नहीं हो सकता । कोई भी परम्परा से ज्ञान के विकसित होने पर ज्ञान के अंशों से थोड़ा या बहुत सा ज्ञान पल्लवित करके ही किसी भी भाषा में ग्रन्थ रच सकता है, अन्यथा नहीं ।

महाराज, क्या आप ऐसा मानते हैं कि—सृष्टि के आदि में वेद ऋषियों के लिये परमात्मा ने नहीं दिये उनके बिना ही ज्ञान का विकास हो गया । सो इस विषय में सुनिये, जीवों के स्वाभाविक ज्ञान को बुद्धि और नैमित्तिक-ज्ञान को विद्या कहते हैं विद्या के बिना बुद्धि का विकास संभव नही अतः इसी विद्या की, सृष्टि के आरम्भ में आवश्यकता हुई । और भी ब्रह्माक्षरसमुद्भवं इस गीता-वचन की व्याख्या में शंकराचार्य लिखते हैं कि अक्षर अर्थात् परमात्मा (उद्भव) उत्पत्ति स्थान है जिसका ऐसा ब्रह्म अर्थात् वेद परमात्मा से उत्पन्न हुआ । बुद्धिमान् जन यहाँ पर यह भी देखें कि इस लेखक की बुद्धि अपने पूर्वापर के वचन-विरोध का भी विचार नहीं करती है जो कि सम्प्रदाय से प्राप्त वेद शब्दराशि राग का अलापने वाला लेखक लिखता है कि :—

"वेदान्ति-सम्मत ईश्वर, निश्वसित के समान, बुद्धि के प्रयत्न-विशेष से अनपेक्षित एवं अकृत्रिम वेद को निश्वास-न्याय से कल्प के आदि में प्रकट करता है जैसे कि अस्य महतो इत्यादि (बृह० ३।२१४।१०) श्रुति है ।

सो इस प्रकार यहां यह उक्ति घटित होती है कि स्वयं लिखे पर स्वयं न वांचे । इसके अतिरिक्त यह लेखक सब शास्त्रों में विरोध की उद्भावना

अपि चायं सर्वशास्त्रेषु सर्वत्र विरोधमुद्भावयन् ऋषीणामनैक्यमतमपि प्रतिपादयति । भिन्नत्वे तु सर्वेषामेव ऋषीणाम् आप्तत्वं विहन्यते । किञ्च महानुभावोऽयं नास्तिक-बौद्ध-जैन-पङ्क्त्यामेव सांख्यकारं मीमांसाकारं प्रतिष्ठापयन् न लज्जते । तथाहि दृश्यतामस्य हिन्दी-भाषालेखः वे. पा. १८८ तमे पृष्ठे :—'यहाँ पर मीमांसक, सांख्य, बौद्ध, जैन आदि ईश्वर को न मानने वाले दार्शनिकों का कहना है' ।

अतः सृष्टयादौ वेद-ज्ञानस्य आवश्यकता अपरिहार्या । किञ्च 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमाः बभूवुः इति वेदोक्तिः शिक्षायाः मात्रामेव मनुष्याणाम् असमत्वे हेतुं प्रतिपादयति । नह्यज्ञानां सामान्य-ज्ञानानां वा समवायो बहुज्ञतां विशेषज्ञतां वा सम्पादयितुं क्षमः । नूनं न निमित्तं विना जीवात्मनः ज्ञान-विकास-सम्भवः । अतः सर्गादौ एतन्निमित्तं शिक्षणं वेदद्वारा भगवता प्रादायि एव ।

भगवन्, "पशु-पक्षि-पिपीलिकादीनामपि विशिष्ट-ज्ञान-पूर्वकं प्रवृत्तिदर्शनात्, अतएव पिपीलिकाभ्यः धन-संग्रहः शिक्ष्यते, मधुमक्षिकाभ्यः सारग्रहणं मनुष्यैरपि शिक्ष्यते ।

"अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः ।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥"

इत्येतेन समग्रेण भवल्लेखेन कथमेषोऽभिप्रायः सेत्स्यति यत् न वेद-ज्ञानस्य सृष्ट्यादौ आवश्यकतेति ।

भगवन्, किं स्वाभाविकेन ज्ञानेन पिपीलिकादिवत् मनुष्योऽपि समाधिपर्यन्तां परमानन्द-सिद्धिम् आप्तुं शक्नोति ? किञ्च पिपीलिकाऽपि स्वाभाविकेन ज्ञानेन मोक्षानन्दमधिगन्तुं पारयति ? अहो नु एवंविचार-शीला भवद्बुद्धिः कस्मिँश्चित् संग्रहालये एव न्यसनीया ! नूनमेषा विकास-वादिनी लतिका भवतां, पाश्चात्य-विचार-वारि-पल्लवितेत्यलं चर्चयाऽनया ।

भगवन्, शिक्षाऽऽदान-शक्तिर्यथा मनुष्याणां किं तथा पिपलिका-कपोतादीनामपि ? वस्तुतः नैवं ते कपोतादयः ज्ञानं गृहीत्वा वर्धयितुमपहातुमन्यथाकर्त्तुं वा स्वातन्त्र्येण क्षमन्ते यथा मनुष्याः । भवन्मते यथा

करके परस्पर-विरोधीमत का प्रतिपादन करता है । इस प्रकार करने से तो ऋषियों का आप्तत्व नष्ट हो जाता है । यह लेखक महानुभाव नास्तिक बौद्ध, जैनों की पंक्ति में सांख्यकार कपिल मुनि और मीमांसाकार जैमिनि ऋषि को भी रखता हुआ तनिक भी लज्जित नहीं होता है क्योंकि वे. पा. पृ० १८८ पर हिन्दी में लिखा है:['यहां पर मीमांसक सांख्य बौद्ध जैन आदि ईश्वर को न मानने वाले दार्शनिकों का कहना है ।'

इसलिये सृष्टि के आदि में वेद-ज्ञान की आवश्यकता अपरिहार्य है । तथा 'अक्षण्वन्त कर्णवन्तः' इत्यादि वेदोक्ति के अनुसार मनुष्यों की ज्ञानकृत असमानता में शिक्षा की मात्रा ही कारण है । अज्ञानी अथवा अल्पज्ञानी पुरुषों का समुदाय कभी भी बहुज्ञ और विशेषज्ञ नहीं हो सकता । निश्चय ही निमित्त (विद्या) के बिना जीवात्मा के ज्ञान का विकास-सम्भव नहीं । अतः सृष्टि के आदि में भगवान् ने वेद का निमित्तभूत ज्ञान दिया । वही मानव ज्ञान के विकास में निमित्त है ।

महाराज, पशु पक्षी पिपीलिका आदि में विशिष्ट ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है इसीलिये चीटियों से धन संग्रह और मधु-मक्खियों से सार-ग्रहण की शिक्षा ली जाती है जैसा कि कहा है-छोटे या बड़े शास्त्रों से कुशल-मनुष्य भौंरे के द्वारा पुष्प-रस संग्रह करने की भाँति, सबसे सार ग्रहण करे ।' इस सम्पूर्ण लेख से आपका यह अभिप्राय कैसे सिद्ध होगा कि वेद-ज्ञान की सृष्टि के आदि में आवश्यकता नहीं है । और महाराज, क्या आप यह बता सकते हैं कि स्वाभाविक ज्ञान मात्र से मनुष्य पिपीलिकादि के समान, विकास करके समाधिपर्यन्त परमानन्द की सिद्धि प्राप्त कर सकता है ? कदापि नहीं । और क्या पिपीलिका भी अपने स्वाभाविक ज्ञान से मोक्षानन्द की प्राप्ति कर सकती है ? कदापि नहीं । आश्चर्य ! आपकी इस प्रकार की विचार शील बुद्धि किसी संग्रहालय में ही रखने योग्य है और निश्चय ही यह विकास वादिनी आपकी पद्धति पाश्चात्य विचार धारा से प्रभावित है । और शिक्षा के ग्रहण की शक्ति जैसी मनुष्य की है, क्या वैसी ही चीटी कबूतर आदि की भी है ?

वास्तव में वे ज्ञान को ग्रहण करके, बढ़ाने, न्यूनकरने या अन्यथा करने में इस प्रकार समर्थ नहीं हैं, जिस प्रकार मनुष्य । महाराज ! आपके मत में भेडिये से आखेट की शिक्षा, कबूतर से लोकतन्त्र-नीति की शिक्षा जिस प्रकार

वृकाद् आखेटपाठस्य कपोताद् लोकतन्त्रनीतिशिक्षणस्य च संभवः, न तथा आद्युपदेशं विना मनुष्यस्य विद्वत्ता-प्राप्ति-संभवः ।

श्रीमन् ! न च भवता 'भूमिका'-शब्दावल्यां विचारः कृतो यत् 'न कश्चिदपि वेदस्य-पठनश्रवणमन्तरा न विद्वान् भवति, शास्त्रं पठित्वा,उपदेशं श्रुत्वा,व्यवहारं च दृष्ट्वा एव मनुष्याणां ज्ञानं भवति'। अत्र 'विद्वान्' 'ज्ञानमिति च द्वयोःशब्दोरुपन्यासः समालोच्यः । अनयोः प्रयोगो निम्नोल्लिखितेष्वर्थेषु 'विद्वान् ज्ञानिनि धीरे च विद्वानध्यात्म-वेदके' इति धरणिः । विद्वानात्मविदि प्राज्ञे पण्डिते चाभिधयेवदिति' विश्वः । तत्किं पश्वादयोऽपि विशिष्ट-ज्ञान-पूर्वक-प्रवृत्या भवन्मते विद्वांसो जायन्ते ? मोक्षेधीर्ज्ञानमित्यमरादपि कोषानुसारं ज्ञानं मोक्षधी-पदार्थः, तत्किं मोक्षधीः (ज्ञानं) तिरश्चां पशूनां चापि सम्भवति ? कदापि नैव ।

संभव है, उस प्रकार आदि ज्ञान-वेद के उपदेश के बिना, मनुष्य में विद्वत्ता नहीं हो सकती ।

श्रीमान् जी ! क्या आपने ऋषि दयानन्द की भूमिका की इस शब्दावली पर विचार नहीं किया कि— कोई भी वेद के पठन श्रवण के बिना विद्वान् नहीं हो सकता, शास्त्र को पढ़कर, उपदेश को सुनकर, व्यवहार को, देखकर ही मनुष्य को ज्ञान होता है । यहां पर 'विद्वान्' और 'ज्ञान' इन दो शब्दों का प्रयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है । इनका प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में होता है :—

धरणि शब्दकोश के अनुसार, विद्वान् शब्द के अर्थ धीर, ज्ञानी तथा आत्मा का जानने वाला, है, और विश्वकोष के अनुसार आत्मवेत्ता प्राज्ञ तथा पण्डित ये तीन अर्थ होते हैं । अब आप ही बताइये कि क्या पशु भी विशिष्ट ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति से विद्वान् हो सकते हैं और अमर कोष के अनुसार 'मोक्षेधीर्ज्ञानम्' अर्थात् ज्ञान का अर्थ मोक्ष में धी होने से, क्या पशु पक्षियों की भी मोक्षधी सम्भव है ? कदापि नहीं" । और जो भाषा-विज्ञान विषयक आपका मत है वह भी अविवेकपूर्ण है क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को वाणी भी परमात्मा ने ही सिखाई जैसे कि-बृहस्पते प्रथमं वाचो······ इत्यादि मन्त्र के प्रमाण से ऋषियों ने परमात्मा की प्रेरणा से ही

यच्च भाषाविज्ञान-विषयकं भवन्मतं तदप्यविवेकानुगतम्, यतो हि वाणी अपि सर्गादौ परमात्मनैव शिक्षिता तथा हि :—बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधाना । यज्ञेन वाचः पदवी-मायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् । (ऋग् १०।७१।१) इति प्रमाणानुसारम् ऋषयो ह्यादिसृष्टौ ईश्वरस्य प्रेरणया वाणीमलभन्त । अपिच सम्प्रत्यपि वर्णविवक्षायां पूर्वम् "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया" । (वर्णो० शिक्षा) इत्याद्यन्तः प्रेरणाक्रम एवाङ्गीक्रियते सर्वैः । सर्वोऽप्ययं भावश्च 'ऋषिषु प्रविष्टाम्' इत्यनेन ध्वन्यते ।

न च नास्तिकाभिमतमिव वाण्याः स्वयं शिक्षण-विकास-कल्पना आदर्त्तव्या । यतोहि साम्प्रतिक-जङ्गल-वासिनोऽपि परीक्षिताः यत् न ते शिक्षकाभावे भाषावन्तोऽजायन्त । या च साम्प्रतं जाङ्गलिकानां भाषा, साऽपि आदौ शिक्षिता एव, ततः सा भ्रष्ट-रूपं प्रत्यपद्यत

वाणी प्राप्त की थी, कहा है । और* आज भी वर्ण के कहने की इच्छा में "आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् इत्यादि प्रमाण के अनुसार वर्णों के उच्चारण का यही प्रेरणा क्रम सभी विद्वानों के द्वारा स्वीकार किया जाता है । यह सम्पूर्ण-भाव ऋषिषु प्रविष्टाम्'········से ध्वनित होता है । नास्तिकों की मान्यता के समान वाणी के शिक्षण के विकास की कल्पना आदरणीय नहीं है ।

जंगल वासियों की अब परीक्षा भी की गई है कि शिक्षक के अभाव में वे भाषा नहीं सीख सके । जो भी भाषा वर्त्तमान समय में जंगलियों की है, वह पूर्व शिक्षित भाषा का परम्परागत अपभ्रंश ही है । इस वैदिक प्रकरण में भाषा शब्द से पशु-पक्षियों की भाषा अभीष्ट नहीं है । आपने "ज्ञान विज्ञान

---

* १ दार्शनिक इपीक्यूरस समर्थन करता है कि "सबसे प्रथम भाषा के प्रकट करने में ईश्वरीय प्रेरणा ने मनुष्य की अबोधकता के साथ (सोते में बोलने बड़बड़ाने के सदृश) काम किया, जिस प्रकार वह (बिना इरादे के) खांसी छींक या आह भरा करता है ।

२ 'साइंस आफ थौट एन्ड लेंगुएज' में कहा है कि ज्ञान बिना भाषा के और भाषा बिना ज्ञान के असम्भव है ।

३ 'पश्य देवस्य काव्यं' मन्त्रांश में पठित काव्य 'कु शब्दे' धातु से बना है ।

परम्परया । भाषाशब्देनाऽस्मिन् वैदिक-प्रकरणे न पशु-पक्ष्यादीनां वागभीष्टा । भवता चाप्यन्ततोऽभ्युपगत एष-एव सिद्धान्तः यथा :— "आदौ ज्ञान-विज्ञाने परमेश्वर एवाशिक्षयत्" इति नास्ति तदा कश्चिद् विप्रतिपत्तेरवकाशः ।

भगवन् !, भवत्पाठशालायाः आदिशिक्षकाः वेदरूपम् ईश्वरोपदेशं विहाय वृक-मधुमक्षिका-कपोतादय एव आसन् तथा च (वे. पा. पृ. ४६१ पं० २, ३, ४, ५, ६) ।

अथ च ग्रन्थ-निर्माणे वेदाध्ययनमेव कारणं, यतो हि सृष्ट्यादौ प्रदत्तं वेदज्ञानं ज्ञानमात्रस्यैव कारणमासीत् । 'तदध्ययनं विनाऽपि ग्रन्थ-सम्भवः' इति भवत्कथनेनाऽपि वेदस्य कारणत्वं न व्यभिचरति, अस्य कथनस्य हेत्वाभासत्वात्, मानवीय मूलज्ञानस्य परमेश्वर-प्रदत्त-ज्ञानेनैव पल्लवितत्वाच्च ।

भगवन्, न च केवलमानन्तर्यं कारणमपितु वेदाध्ययनानन्तरमिति समुच्चय एव कारणम् । केवलस्याऽऽनन्तर्यस्य कारणस्य ग्रन्थ-रचनायां सर्व-साधारणत्वाद् अन्यथा-सिद्धत्वम् । तथाहि—"तद्धर्मावच्छिन्न-निरूपित पूर्ववृत्तिताऽवच्छेदकत्वं तद्धर्मावच्छिन्न-निरूपितत्व-मन्यथा सिद्धत्वम्" स्वातन्त्र्येणान्वय-व्यतिरेक-शून्यत्वाद्

आदि परमेश्वर ने ही सिखाये इसमें कोई सन्देह नहीं" यह लिखकर हमारा ही अभिमत-सिद्धान्त दबे स्वर में स्वीकार कर लिया है । महाराज, आपकी पाठशाला के आदि गुरु तो ईश्वरोपदेश रूप वेद को छोड़कर भेड़िया, मधुमक्षिका और कपोत आदि ही हैं (वे० पा. पृ. ४८१ पं, २, ३, ४) ।

ग्रन्थ के निर्माण में वेदाध्ययन ही कारण है, क्योंकि सृष्टि के आदि में प्रदत्त वेद ज्ञान ही, ज्ञानमात्र का कारण है । तथा च "उसके अध्ययन के बिना भी ग्रन्थ की रचना संभव है" आपके इस कथन से भी वेद का कारणत्व व्यभिचरित नहीं होता, आपका यह कथन हेतु न होकर हेत्वाभास है, क्योंकि मानवीय बुद्धि का ईश्वर के ज्ञान से पल्लवन देखा जाता है । वेद अध्ययन के अनन्तर, यह केवल आनन्तर्य-कारण ही नहीं, प्रत्युत समुच्चय ही कारण है । केवल आनन्तर्य तो ग्रन्थ-रचना में सर्वसाधारण कारण होने से अन्यथा सिद्ध है । जैसा कि 'उस धर्म से युक्त निरूपित पूर्ववृत्तितावच्छेदकत्व, तद्धर्मावच्छिन्न

आनन्तर्यस्य च । अन्यथा तु भवन्मतेन घटं प्रति कपाल-संयोगस्य कारणत्वात् तत्संयोगस्य च समवेतत्व-सम्बन्धेन कपालविशिष्टत्वात् घटत्वावच्छिन्न-निरूपित-नियत-पूर्व-वृत्तिताऽवच्छेदकत्वस्य कपालस्य घटत्वावच्छिन्न-निरूपिताऽन्यथासिद्धत्वं स्यात् तेन च कपालस्यान्यथासिद्धत्वं प्रसज्येत । तस्मात् "न द्वितीयं, कालस्य स्वतन्त्र-हेतुत्वाऽसम्भवात्" (वे· पा. वृ. ४६१)—इति भवत्कथनं तु बाल-प्रलपितमेव ।

ननु "शास्त्रं पठित्वा, उपदेशंश्रुत्वा, व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति" इत्यत्र महर्षिवाक्ये भवदाक्षेपो यत् मनुष्यैककर्त्तृकाणां पठत्यादिधातूनां ज्ञानकर्तृकेण भवतिना सह समानकर्त्तृकत्वाभावात् 'क्त्वा' प्रत्ययस्य दुर्घटत्वाद् वाक्यमिदमशुद्धमिति चेन्न, 'समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले' इति सूत्रेण अत्रापि क्त्वा प्रत्ययोभविष्यति, धातूपात्त-व्यापाराश्रयस्य कर्त्तृतया पर्यवसानात्, ज्ञानं च व्यापारस्तस्याश्रयस्तु कर्त्ता मनुष्य एव, अतः समानकर्त्तृकत्वेन 'क्त्वा' प्रत्ययस्याऽत्र सुघटत्वात् ।

न चाऽत्र ज्ञानमिति पदं कर्त्तृयुपहितं भवतीत्यस्याः क्रियायाः कर्त्ता

निरूपितत्व ही अन्यथा-सिद्धत्व है । यहाँ स्वातन्त्र्य के कारण अन्वय-व्यतिरेक-शून्य आनन्तर्य अवश्य है, अन्यथा तो आपके मत से घट के प्रति कपाल के संयोग की कारणता से उसके संयोग के समवेतत्व-सम्बन्ध से कपाल विशिष्टत्व से कपाल का भी अन्यथा-सिद्धत्व हो जायेगा । इसलिये "द्वितीय भी नहीं, क्योंकि काल का स्वतन्त्र हेतुत्व असम्भव है" यह आपका कथन बाल-प्रलाप ही है । ऋषि दयानन्द के शास्त्रं पठित्वा ज्ञानं भवति इस वाक्य पर करपात्री जी का यह आक्षेप है कि पठ् आदि धातुओं का कर्त्ता मनुष्य है और भू धातु का कर्त्ता ज्ञान है अतः इस वाक्य में समानकर्त्तृकत्व न होने से पठित्वा आदि में क्त्वा प्रत्यय नहीं हो सकता फलतः यह वाक्य अशुद्ध है । इस आक्षेप का आरोप उनकी व्याकरण शास्त्र की सूक्ष्मता को न समझने के कारण है, क्योंकि यहाँ पर धातूपात्त व्यापार का आश्रय मनुष्य ही मुख्य कर्त्ता है । इसलिये समान कर्त्तृकत्व होने से 'क्त्वा' प्रत्यय के होने में कोई बाधा नहीं । अच्छा यहां यदि ऐसा कहा जाय कि ज्ञान पद यहां कर्त्ता है और 'भवति' इसकी क्रिया है और पठनादि क्रियाओं का कर्त्ता मनुष्य है, अतः भिन्न कर्त्तृक होने से 'क्त्वा नहीं

तथा पठनादिक्रियाणां कर्त्ता च मनुष्य इति भिन्न-कर्त्तृकत्वे समानकर्त्तृकत्वाभाव इति वाच्यम् ।

उक्त-व्याख्यामनुसंधाय शक्ति-शक्तिमतोश्चाभेदेन शक्तिमद गतैकत्वस्य पठन-श्रवण-दर्शन-ज्ञान-शक्त्यारोपेण एककर्त्तृत्वापत्तेः ।

अपि च यद्यपि मनुष्याणां ज्ञानं भवतीत्यत्र 'भवति' क्रियायाः 'ज्ञानं' कर्त्ता, तथाऽपि मनुष्याणां ज्ञानमित्यत्र कर्त्तरि षष्ठी, न तु कर्मणि, अतोऽत्र मनुष्यस्थं मनुष्यकर्त्तृकं ज्ञानमित्याशयान्मनुष्यस्यापि कर्त्तृत्वं न विहन्यते भवतिंप्रति । मनुष्यश्च यथा पठति शृणोति पश्यति क्रियाणां कर्त्ता तथैव भवति क्रियाया अपि, अतोऽत्र समानकर्त्तृकत्वं न विहतम् । अथापि दुर्जन-तोष-न्यायेन अत्र यदि समानकर्त्तृत्वं न मन्यते, दुराग्रहदृशा असमान-कर्त्तृकत्वमेव स्वीक्रियते तथासति तु 'अवधाय जिघ्रति यजमानः (कात्या० श्रौ. सू. ४।१।२०) अत्र अध्वर्युः पिण्डान् अवदधाति यजमानश्च जिघ्रति इति भिन्नकर्त्तृकत्वेऽपि अवधायेत्यत्र यथा ल्यप् प्रत्ययः तथैवात्रापि बोध्यम्, आर्षत्वादुभयत्रापि न दोषः इत्यलं पर-छिद्रान्वेषणेनेति ।

हो सकता तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् ज्ञान और ज्ञान-वान् मनुष्य अभिन्न है, अतः शक्तिमत्व गत एकत्व के पठन श्रवण दर्शन और ज्ञान इन शक्तियों पर आरोप से एककर्त्तृकता हो जाती है । यद्यपि 'मनुष्याणां ज्ञानं भवति' इस वाक्य में भवति क्रिया का कर्त्ता ज्ञान है तथाऽपि 'मनुष्याणां ज्ञानम्' यहां कर्त्ता में षष्ठी होने से मनुष्य-कर्त्तृक-ज्ञान ऐसा अभिप्राय होने के कारण मनुष्यस्थ ज्ञान ही कर्त्ता है अतः भवति क्रिया के प्रति मनुष्य के कर्त्तृत्व का विघात नहीं, फलतः जैसे पठन श्रवणादि क्रियाओं का मनुष्य कर्त्ता है उसी प्रकार भवन क्रिया का भी । और यदि दुर्जनतोषन्याय से दुराग्रह बुद्धि वालों की दृष्टि में समान कर्त्तृकत्व न भी माना जाय तो जैसे 'अवधाय जिघ्रति यजमानः इस कात्यायन सूत्र में अध्वर्यु पिण्डों को रखता है तथा यजमान सूँघता है इस विवक्षा में भिन्न-कर्त्तृकत्व होने पर भी अवधाय में ल्यप् प्रत्यय हो रहा है उसी प्रकार 'उपदेशं श्रुत्वा' आदि स्थल में भी त्वा प्रत्यय का आर्ष प्रयोग संभव है ।

वे० पा० ४९२ तमे पृष्ठे समुल्लिखित-विषय-समालोचनम् :—

भगवन् ! 'आम्रान्पृष्टः कोविदारानाचष्टे' इति लोकोक्ति—मनुसरता भवता अनर्गलमप्रासङ्गिकं ग्रन्थ-कलेवर-स्थौल्यमापादनाय विकास-वादिनां मतमनावश्यकं वर्णितम् ! किमिदं भवदिष्टम् ? नो चेत्कथमुपात्तम् ?

महाविद्वन् ! विकासवादिनां मतेऽपि शिक्षणाय विद्यालयोद्-घाटनमावश्यकम् । यदि विकासवादः सिद्ध-सिद्धान्तोऽभविष्यन् न शिक्षण-विद्यालयस्योद्घाटनस्यावश्यकताऽभविष्यत् । 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्' इति पतञ्जलि मुनि-दर्शित-दिशा आदिगुरुः परेशः सर्गादौ वेदानुपादिशत् ।

असुर वाणीपाल-फ्रेडरिक द्वितीय-जेम्स चतुर्थादीनां परीक्षणैः भाषा-ज्ञानयोः विकासस्यासिद्धत्वमुपपन्नम् इति विदितमेव शेमुर्षीजुषां विदुषाम् । ज्ञानिभ्यः पृथक् निर्वासितानां 'नीग्रो' इत्यादीनां नाद्यावधि ज्ञान-विकासो दृश्यते, सुशिक्षित-जन-सम्पर्काभावात् । ज्ञान-वाहकता च न भाषां विना सम्भवति, तदाधारत्वात् तस्याः । न चाद्यावधि पशु पक्ष्यादिभिरपि स्वभाषा-ज्ञानयो र्विकासः समापादितः । भारतीय-

---

पृ. ४९२ पर लिखित-विषय की आलोचना देखिये महाराजा ! पूछें आम की कहें, कचनार की उक्ति के अनुसार आपने अपने ग्रन्थ के कलेवर की स्थूलता बढ़ाने के लिए अनर्गल अप्रासङ्गिक और अनावश्यक कह डाला है। क्या ये आपको अभीष्ट है ? यदि नहीं तो आपने यहां क्यों लिखा ?

महाविद्वन् ! विकास वादियों के भी मत में शिक्षण के लिये विद्यालय खोलना आवश्यक है। यदि विकासवाद सिद्ध-सिद्धान्त होता तो उन्हें भी विद्यालय के खोलने की आवश्यकता न होती। 'स पूर्वेषामपि गुरुः'… इत्यादि इस महर्षि पतञ्जलि मुनि-कथित सूत्र के अनुसार आदि गुरु परमपिता परमात्मा है। उसी ने सृष्टि के आदि में मनुष्यों को वेदों का उपदेश दिया। इंगलिशवेत्ता फ्रेडरिक द्वितीय तथा जेम्सचतुर्थ आदि ने भाषा और ज्ञान का विकास स्वयं संभव नहीं, यह परीक्षणों से सिद्ध किया है। यह बात सभी बुद्धिमानों को विदित है। ज्ञानियों से पृथक्-निर्वासित नीग्रो इत्यादि लोगों का आज तक ज्ञानवर्धन नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें शिक्षित-जन-सम्पर्क नहीं मिला।

विद्वद्भिः वेदमनुसरद्भिः शब्दार्थ-सम्बन्धः नित्यः स्वीकृतः । तथाहि-महर्षिः जैमिनिः स्व-मीमांसायां "नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्" (१।१।१८) इति सूत्रेण महर्षिव्यासश्च योगदर्शन सूत्र १।२७। भाष्ये 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यया नित्यः शब्दार्थ-सम्बन्ध इत्यागमिनो प्रतिजानते' इति प्रतिपादितवान् ।

एवमियमेव वैदिकी-भाषा तुलनात्मकानुशीलेन साक्षात् परम्परया वा लैटिन-जर्मन-फ्रेन्चादि-भाषाणां जननीति सिध्यति । अन्ते तु वे० पा० ४६२ तमे पृष्ठे भवान् अङ्गीकृतवान् यत् 'स्वपित्रादि-व्यवहारादि-सापेक्षत्वमिति' तदेषाऽङ्गीकृतिः व्याघात-दोषेण दूषिता। अथापि चैवं पितृपैतामहादिक्रम-स्वीकारे तु सृष्टेरादौ आदि-पित्रा परमेश्वरेण सर्व-ज्ञान-व्यवहार-शिक्षणस्य औचित्यं तु स्वतः सिद्धम् ।

महर्षि दयानन्देन यच्चोक्तं 'स्वाभाविक-ज्ञान-मात्रेणैव विद्या-प्राप्त्यनुपपत्तेश्च तस्य साधन-कोटौ प्रविष्टत्वाच्चक्षुर्वद्' इति । एतदग्रे

भाषा के बिना ज्ञान-वाहकता हो नहीं सकती, क्योंकि भाषा ही ज्ञान का आधार है और न आज तक पशु पक्षी आदि की अपनी बोली तथा ज्ञान का ही विकास हो सका है । वैदिक विद्वानों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध नित्य स्वीकार किये हैं । जैसे कि—महर्षि जैमिनि ने मीमांसा में 'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' (मी. १।१।१८) इस सूत्र द्वारा तथा महर्षि व्यास ने योगदर्शन के सूत्र (१।२७) की व्याख्या में 'सम्प्रतिपत्ति-नित्यया' इत्यादि वाक्य से कहा है। इस प्रकार यही वैदिक-भाषा तुलनात्मक अध्ययन से साक्षात् अथवा परम्परा, से लैटिन जर्मन, फ्रेन्च आदि भाषाओं की जननी है, ऐसा सिद्ध होता है ।

अन्ते वे. पा. के ४६२ पृष्ठ पर तो आपने स्वीकार किया है "वह भाषा अपने पिता-पितामह आदि के व्यवहार की अपेक्षा रखती है" यह प्रतिपादन व्याघात-दोष से दूषित है । और इस प्रकार पिता पितामह आदि क्रम के स्वीकार करने पर तो सृष्टि के आदि में आदि-पिता परमेश्वर ने सब ज्ञान-व्यवहार का शिक्षण दिया—इस बात का औचित्य स्वतः सिद्ध है ।

महर्षि दयानन्द का यह कथन कि—'स्वाभाविक ज्ञान-मात्र से विद्यादि की प्राप्ति असम्भव है, क्योंकि वह स्वाभाविक-ज्ञान चक्षु के समान स्वयं साधन कोटि में आता है' इसके आगे समग्र विषय को महर्षि ने स्वयं स्पष्ट किया है

समग्रविषयं महर्षिः स्वयमेव प्रत्यपादयत् यत् 'यथा चक्षुः' मनः—साहित्येन विना अकिञ्चित्करमस्ति तथा अन्येषां विदुषामीश्वर-ज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकं ज्ञानमकिञ्चित्करं भवतीति तथैव स्वाभाविक-ज्ञानं पशूनामपि समान-व्यवहारस्य साधनं, परं तत्स्वाभाविक-ज्ञानं धर्मार्थ-काम-मोक्ष-विद्यानां साधनं स्वतन्त्रतया कदापि भवितुं नार्हति, इति ।

अत्र लेखे भवताऽक्षिप्तं यत् 'नहि चक्षुराद्यगोचरस्योपदेशस्तच्छ्रवणं तद्व्यवहार-दर्शनं वा सम्भवति' इति, तदविचारितमेव, जीवात्म-व्याप्तस्येश्वरस्य ज्ञानस्य अन्तःप्रकाशितत्वात् न चास्य श्रावणाद्य-पेक्षा ।

यच्च भवता मनुष्य-पशु-पक्षिणां स्वाभाविक-ज्ञानस्य सर्वकार्य-सम्पादन-क्षमत्वं प्रतिपादितं, तदप्यज्ञानमूलकमेव । यतः मनुष्याणां-पशूनां चाऽऽत्मनामेकप्रकारकत्वेऽपि क्षमतायां-भेदान्मनुष्याणां भोगकर्मयोनिजानां बुद्धि-स्वातन्त्र्याभ्यां कार्यकरणात्, पश्वादीनां च

कि जैसे मन के सहयोग के बिना आँख कुछ भी नहीं देख सकती, उसी प्रकार अन्य विद्वानों और ईश्वर-ज्ञान की सहायता के बिना स्वाभाविक ज्ञान कुछ भी नहीं कर सकता। स्वाभाविक-ज्ञान पशुओं के समान-व्यवहार का साधन है, परन्तु वह स्वाभाविक-ज्ञान धर्मार्थ-काम और मोक्ष-विद्या का साधन कदापि नहीं हो सकता ।' यहाँ आपने यह आक्षेप किया है कि 'चक्षु आदि से अगोचर निराकार ईश्वर द्वारा उपदेश तथा उसका जीवों द्वारा श्रवण अथवा व्यवहार-दर्शन नहीं हो सकता ।' यह कथन आपका सुविचारित नहीं है क्योंकि निराकार परमेश्वर जीवात्माओं में भी व्याप्त है, अतः उसने वहीं अन्तर में ज्ञान का प्रकाश कर दिया । एतदर्थ बाह्य शब्दादि साधनों की उसको कोई आवश्यकता नहीं ।

और आपने जो पशु-पक्षियों के स्वाभाविक ज्ञान को सब कार्यों के सम्पादन में समर्थ बताया है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध अज्ञान मात्र है । क्योंकि मनुष्यों की आत्मा और पशुओं की आत्मा में एक प्रकारकत्व होने पर भी क्षमता में स्पष्ट भेद है, मनुष्य कर्म और भोग उभययोनि है परन्तु पशु केवल भोग योनि है, मनुष्य, पशु की अपेक्षा बुद्धि और स्वतन्त्रता से काम कर

भोगयोनीनां विद्याप्राप्तिसामर्थ्याऽभावेन बाह्यसाधनै बुद्धिकार्यानुपबृंहणात् तेषां मनस्सु नवीनसंस्काराऽऽधान-क्षमताऽभावेऽन्य-परिणामस्य (विकासस्य) कल्पनाऽसंभवः।

अपि च करपात्रमहोदयस्य येयं तर्कणा यत् "ईश्वरस्य पितृत्वे स्वीकृतेऽपि निराकारत्वात्तस्य, न कथमप्युपदेशव्यवहार-ग्रहण-सम्भव" इति, सा तु पूर्वमेव समाहिता, यन्निराकारः सर्वव्यापक ईश्वरः ऋषीणामात्मसु व्यापकत्वात् अन्तःप्रेरणया सर्गादौ ज्ञानोपदेशं व्यधात्।

अपिच भगवन्! ईश्वरस्य साकारता-प्रतिपादनाय भवच्चेष्टा नाऽत्र साफल्यमगात्, युक्ति-प्रमाणानुपलम्भात्। साकारत्वे सावयवत्वे च संयोगापरिहार्यत्वे वियोगस्य च तत्सहचारितया भवदीश्वरस्य विनाशधर्मशीलतापत्तिः। साकार-पक्षाक्षिप्त-दोषविरहितः सन् निराकारः एव परमात्मा सूक्ष्मत्वाज्जोवात्म-प्रकृत्यादि-जगद्व्यापनात् जोवानां परमानन्द-हेतुरपि भवति यथा चोक्तमुपनिषदि :—

"एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्"। इति।

ननु सर्वव्यापकत्वेऽपि साकारता तु आपत्स्यते एव, सृष्टि-रचयितुस्तस्य हस्त-पादाद्यपेक्षकत्वाद् इति चेन्न, यतो हि जायतेऽत्र-प्रश्नः, कि समग्रत्वेन साकारता भगवतः, उतांशत्वेन? नाद्यः, व्यापकत्व-व्याघातात। अंशत्वेन साकार-कल्पनायामपि एतद्व्याघाता-देव तस्याः कल्पनायाः अपि असम्भवाद् अखण्डत्वाच्च तस्य परमेश्वर-रस्य, न द्वितीयोऽपि पक्ष-संभवः।

सकता है। परन्तु पशु बाह्य साधनों से बुद्धि के कार्यों का उपबृंहण नहीं कर सकता, अतः उसके मन में नवीन संस्काराधान की क्षमता के अभाव में अन्य परिणाम (विकास) की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

करपात्री जी का कहना है कि ईश्वर का पितृत्व मानने पर भी उसके निराकार होने से किसी प्रकार उपदेश का ग्रहण संभव नहीं' इसका समाधान पूर्व ही किया जा चुका है कि निराकार एवं सर्वव्यापक ईश्वर, ऋषियों की आत्माओं में भी विद्यमान था, उसकी अन्तः प्रेरणा से ही वेदोपदेश संभव हुआ। ईश्वर की साकारता-प्रतिपादन की, करपात्री जी की चेष्टा यहाँ सफल नहीं हुई, क्योंकि इसमें युक्ति तथा प्रमाणों का अभाव है। साकारत्व और सावयवत्व में संयोग अपरिहार्य होने से वियोग भी अनिवार्य है, क्योंकि संयोग और वियोग दोनों ही सहचर हैं, तब तो आपके ईश्वर की मृत्यु भी माननी पड़ेगी। निराकार-परमात्मा ही साकारता के दोषों से रहित, सूक्ष्मतम होने के कारण, जीवात्मा और प्रकृत्यादि में व्याप्त होकर जीवों के परमानन्द का हेतु भी होता है। जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है कि—एक ही सबको वश में करने वाला ईश्वर सब भूतों की अन्तरात्मा में स्थित रहता है, जो उसे देखते हैं उन्हीं को शाश्वत-सुख (परमानन्द) मिलता है, अन्यों को नहीं।'

यह कथन भी ठीक नहीं कि ईश्वर के सर्वव्यापक होने पर साकारता तो माननी ही पड़ेगी क्योंकि सृष्टि का रचना कार्य करने के लिए उसको हाथ पाँव की अपेक्षा होगी हो। यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तुम ईश्वर को सम्पूर्ण रूप से साकार मानोगे या अंश रूप से? पहली बात तो बन नहीं सकती, क्योंकि इस प्रकार हस्त पादादि के मानने पर सर्वव्यापकता नहीं रहेगी और अंश से साकार मानने पर भी इसी हेतु से तथा उस परमेश्वर के अखंड होने के कारण दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं।

आपने यह जो कहा कि—सुप्त-प्रतिबुद्ध न्याय से विशिष्ट प्रजापति आदि पूर्वकल्प के व्यवहारों के उपदेशों द्वारा विशेष ज्ञान और उनके उपदेश से अन्य जीवों को ज्ञान-वाला बनाते हैं, यह भी विवेक-शून्य पक्ष है, क्योंकि सुप्त-प्रतिप्रबुद्ध न्याय में कोई शास्त्रीय-प्रमाण नहीं, तथा यह बुद्धि संगत भी नहीं है। सुषुप्ति-अवस्था तो सूक्ष्म शरीर में होती है जो कि शरीर-धारियों के लिये ही सम्भव है। दुर्जनतोष न्याय से यह मान भी लिया जाये कि प्रलय-काल में इनकी सुषुप्तिवत् उपस्थिति हो जायेगी। इस स्थिति में हमारा प्रश्न यह है कि उन प्रजापतियों की वेद-तत्त्व-ज्ञान के द्वारा मुक्ति हुई थी या नहीं? प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि यदि मुक्ति हो गई थी, तो आपके मत से उनकी कदापि पुनरावृत्ति होगी ही नहीं, और यदि दूसरा पक्ष माना जाये कि मुक्ति नहीं हुई, तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि पूर्णता होने पर मुक्ति अपरिहार्य है। पुनरपि उक्त न्याय से यह भी मान लिया जाये कि मुक्ति से पुनः आकर प्रजापति नाम का कोई जीव वेदोपदेश देता है न कि परमात्मा, तो इससे आपने क्या विशेष साध लिया? वास्तव में तो आप नवीन वेदान्तियों

यच्चोक्तं भवता सुप्त-प्रतिबुद्धन्यायेन विशिष्ट-प्रजापत्यादीनां पूर्व-कल्पीयव्यवहारोप-देशादिभिः विशिष्टज्ञान-तदुपदेशेन चान्येषामपि जीवानां तत्संभवाद्" इति तदपि अविवेकोपन्यास एव। सुप्त-प्रतिबुद्धन्याये शास्त्र-प्रमाणाऽभावात् बुद्ध्यसंगतत्वाच्च तस्य। तथा हि :—सुषुप्त्यवस्थायाः सूक्ष्म-शरीरे एव संभवः, अपि च सा शरीर-धारिणामेव सम्भवति। दुर्जनतोष-न्यायेन मन्येतापि यत् प्रलयकाले एतेषां सुषुप्तिवदुपस्थितिः, सर्जन-काले च सर्व-ज्ञानस्याप्युपस्थितिर्भविष्यतीति। अत्र स्थितौ पृच्छामो वयं यत् किं तेषां प्रजापत्यादीनां वेद-तत्त्व-ज्ञानान्मुक्तिरभवन्नवेति? तत्र नाद्य-पक्ष-संभवः भवतां मते मुक्तेः पुनरागमनाऽसम्भवात्। अथापि द्वितीयः पक्षो मन्येत, सोऽपि न घटते, पूर्णत्वे सति मुक्तिप्राप्तेरपरिहार्यत्वात्। दुर्जनतोष-न्यायेन एतदेव मन्येत यन्मुक्तेः पुनरागत्यैव प्रजापतिनामा कश्चिज्जीवः उपदिशति न तु परमात्मा। तदापि एतेन किं बहुत्वं साधितम्?

वस्तुतस्तु, नवीनवेदान्तिनां भवतां ब्रह्मरूपत्वात् नोपदेश्योप-देशता-सम्भवः। उपदेश्यस्य स्वयं ब्रह्मरूपत्वात्। अपि च समग्रमिदं ज्ञानं खण्डनं मण्डनं च ब्रह्मस्वरूपाय भवते निरर्थकमेव। अपरंच "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः", 'ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च', वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्' इत्यादिप्रमाणैः जीवानामेवोपदेश-भाजनत्वस्य सम्भवात्, न नवीन-वेदान्तिनां ब्रह्मरूपाऽऽकल्पिनां भवादृशां कृते एष आदेशः, स्वयमेव स्वस्कन्धाऽऽरोहणवदसम्भवात्।

अथ च भवतः प्रजापति-कल्पनायां पूर्व-सूक्ष्म-शरीरानुपलब्धेः तस्य स्मरणाऽसम्भव एव। सूक्ष्म-शरीर-रचनायाश्च प्रकृति-जन्यत्वेन मुक्तौ तस्यावर्त्तमानत्वादात्मना सह तस्याऽस्तित्वेऽसति सूक्ष्म-शरीरस्य च अचेतनत्वाद् वेद-ज्ञानाधारत्वाऽसङ्गतिः। अतः सिध्यति यत् न युक्ता प्रजापति-कल्पना, परेश एव प्रतिसर्गं वेदोपदेशं कुरुते इति, एष एव राद्धान्तः।

अपि च परस्पर-व्याघात-पुरस्सरं वदता भवता स्वयमपि यत् 'सर्वज्ञः सत्य-संकल्पः सर्वशक्तिमान् प्रेरणा-वशाद् योगिनां देवानां विशिष्टसुकृतिनां च हृदये वेदानाविर्भावयितुं शक्नोत्येवेति' स्वीकुर्वता द्राविड-प्राणायामेन नासिका-ग्रहणं कृतम्।

तदेवं सिद्धान्त-विषयक-ज्ञान-संभ्रान्तस्य अस्थिरधियस्ते पूर्वजल्पनमनल्पं प्रलपितमाभाति। अथापि सर्वज्ञेत्यादिना, सिद्धान्त-मभ्युपेत्य तद्विरोधीविरुद्ध इति लक्षणेन हेत्वाभासताऽपि संघटतेऽत्र।

वे० पा० ४६३-६४ पृष्ठे "यदपि च.............. दुर्वारैव" इति स्थले स्वामि-दयानन्दस्य 'वेदोत्पादने ईश्वरस्य किं प्रयोजनमुत्तरे च—अनुत्पादने किं प्रयोजनमिति कथनं व्यर्थम्"। इति कथनं न

के लिये उपदेश्य और उपदेशक भाव की भी सङ्गति ही नहीं बैठती, क्योंकि आप तो स्वयं ब्रह्म हैं, फिर यह उपदेश किसको और किसका उपदेश? तथा यह सबज्ञान खण्डन, तथा मण्डन ब्रह्मरूप आपके लिये व्यर्थ है। और स्वाध्याय करना चाहिये, षडङ्ग वेद पढ़ना चाहिये, वेद नित्य पढ़ना चाहिये और उसका आचरण करना चाहिये, इत्यादि प्रमाणों से जीवों के लिये तो उपदेश सम्भव है, पर ब्रह्मरूप आप सरीखे नवीन वेदान्तियों के लिये, स्वयं अपने कन्धे पर आरोहण के सदृश असम्भव ही है।

इसके अतिरिक्त आपकी प्रजापति कल्पना में पूर्व-सूक्ष्म शरीर की अनुपलब्धि है अतः उसको स्मरण नहीं हो सकता और सूक्ष्म शरीर की रचना जड़ प्रकृति से होती है वह मुक्ति में नहीं रहती, अतः आत्मा के साथ उसके न रहने से तथा उसके अचेतन होने से वेद-ज्ञान वहां नहीं रह सकता। अतः सिद्ध है कि प्रजापति की कल्पना ठीक नहीं है, परमेश्वर ही प्रत्येक सृष्टि में वेदोपदेश करता है यही सत्य सिद्धान्त है।

यहां पर परस्पर-व्याघात पूर्वक हाथ को घुमाकर नासिका पकड़ने के समान, स्वीकार किया है कि—सर्वज्ञ सत्य-संकल्प और सर्वशक्तिमान् (परमेश्वर) प्रेरणा के द्वारा योगियों, देवों और विशेष पुण्यकर्मा व्यक्तियों के हृदय में वेदों का आविर्भाव कर सकता है" सो इस प्रकार सिद्धान्त-विषयक ज्ञान में भ्रान्त और अस्थिर मति वाले आपका पूर्वजल्पन प्रचुर प्रलापमात्र प्रतीत होता है। दूसरे 'सर्वज्ञ...' इत्यादि कथनांश से सिद्धान्त को स्वीकार करके, फिर उसी का विरोध करने से आपकी विरुद्ध-हेत्वाभासता ही घटित होती है। वे. पा. के पृ. ४६३-६४ पर 'यद्यपि...दुर्वारैव' इस स्थल पर 'वेदों के

साधु, यतोहि दया-द्रवित हृदयो विलुप्त-श्रुतिपठन-पाठन-परम्परा-प्रचालन-कामो महर्षिः मन्दधियां बालानामपि प्रवृत्त्यर्थं प्ररोचक-प्रयोजन—प्रबोधन-पद्धतिं प्रश्नोद्भावनपूर्विकामनुसरन् प्रस्तौति यत् वेदोत्पादने ईश्वरस्य किं प्रयोजनम् ? प्रतिप्रश्ने च 'अनुत्पादने च किं' प्रयोजनमिति ?

अत्रानुत्पादस्य प्रयोजनाऽभाव-शङ्कायां समाधीयते यत् तत्र महर्षिणा प्रोक्तं 'यदि सोऽस्मदर्थं वेदोपदेशं न कुर्यात् तदा तस्य विद्या निष्फला स्यादिति तस्मात्सर्वविद्याधीश्वरेण ईश्वरेणोपदिश्य स्व-विद्यायाः सप्रयोजनता सम्पादिता' इति ।

इदं सर्वमृषिवचनं भवान् 'बाल-वचनं' मन्यते तत्खलु सत्यमेव, यतोहि पुराणाद्यल्प-सारग्रन्थनिचयैः मानवीय-जीवन-प्रयोजन-साफल्यमपश्यद्भ्यो भवादृग्भ्यः बालेभ्यः एवेदं बाल-वचनं भवितु-

---

उत्पादन में ईश्वर का क्या प्रयोजन है ? और फिर उत्तर में अनुत्पादन में क्या प्रयोजन है ? यहाँ यह प्रश्न करना व्यर्थ है।' सो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दया से द्रवित हृदय, वेदों के पठन पान की लुप्त परम्परा को पुनः चालन करने के इच्छुक, महर्षि दयानन्द ने मदबुद्धि बालकों तक को वेद-प्रयोजन समझाने की प्रश्न-पूर्वक प्ररोचक शैली को अपनाते हुए यह बात प्रस्तुत की है कि वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है ? फिर इसके उत्तर में प्रति-प्रश्न करते हुए, अच्छा तो वेदों के उत्पन्न न करनेमें क्या प्रयोजन है ? ऐसा कहा है। यहां करपात्री जी द्वारा अनुत्पादन के अभावरूप में शंका करने का यह समाधान है कि महर्षि ने वहाँ यह कहा है कि 'यदि वह परमात्मा हमारे लिये वेदों का उपदेश न करता, तो उसकी विद्या निष्फल होती, इसलिये सर्वविद्याओं के भण्डार परमेश्वर ने वेदोपदेश करके अपनी विद्या की सार्थकता बतलाई है।'

करपात्री जी महाराज ! आप उपर्युक्त ऋषि वचनों को बच्चों की सी बात मानते हैं, सो सचमुच ठीक ही है, क्योंकि पुराण आदि अल्पसार-ग्रन्थ-समूह के द्वारा मानवजीवन के प्रयोजन की सफलता को न देखने वाले आप सरीखे लोगों के लिए यह सब बाल-वचन ही हैं, जैसे कि किसी विषय को न समझने वाले व्यक्ति को महर्षि मनु ने 'अज्ञो भवति वै बाल; कह कर बालक ही कहा है।

मर्हति। यथाहिः-कमपि विषयमजानन्तं प्रत्येव 'अज्ञो भवति वै बालः' इति मनुना बालत्वं परिभाषितम् ।

यच्चोक्तं भवता 'अनुत्पादनस्याभावरूपतया प्रश्नानर्हत्वात्' इति, तदपि प्रमाणानुपन्यासादनर्गलमेव । श्रूयतां, वेदोपदेशरूपे भावे समुपस्थिते तदभावपक्षेऽपि प्रश्नोद्भूतिः सम्भवत्येव, तत्राऽपि प्रयोजन-संभवात् । यथा कश्चित् प्रतिदिनमश्नीयादेकस्मिन्नहनि च नाश्नीयात् तदा अशनस्याभावेऽपि प्रश्नोद्भूतिः, यदयमद्य कथं नाश्नातीति सम्भवत्येव । प्रश्ने च जायमानेऽसौ कथयति अजीर्णोप-शमनाय नाश्नामीति । तदेवमभावेऽपि विप्रतिपत्तिः, तथैवात्र प्रश्ने परमेश्वरस्य विद्यायाः सार्थकत्वप्रतिपादनमभीष्टम्, अतो न कोऽपि दोषोऽत्र ।

अपि च अनुत्पादने चाऽत्र प्रयोजनाऽभाव-शङ्कायां सत्यां निषेध-मुखेन भाव-प्रयोजनता-दृढीकरणाय 'अनुत्पादने किं प्रयोजनमिति' प्रश्नः कृतः । यच्चाप्युक्तम् "अनुत्पादस्याभावरूपतया" इति, तदत्र भवद्भावे का नाम रूपताऽभीष्टा ? किं विमोहनार्थकरूपधातो-र्निष्पन्ना सा ? उत रूपकरणार्थकाद् रूपधातोः ? उभयत्राऽपि विमोहनात् स्त-

---

और आपने यह जो कहा कि—वेदों की अनुत्पत्ति अभाव है, अतः अभाव के विषय में प्रश्न करना अनुचित है, सो आपकी यह बात किसी प्रमाण के न देने से अनर्गल ही है। सुनिये, वेदोपदेश भाव के होने पर प्रयोजन का जिस प्रकार प्रश्न उठता है, उसी प्रकार वेदोपदेश के न करने रूप अभाव में भी प्रश्न की सम्भावना हो सकती है। जैसे कि कोई आदमी प्रतिदिन भोजन करता है। यदि वह एक दिन भोजन न करे तो प्रश्न होता है कि आज भोजन क्यों नहीं किया ? तब वह भोजन करने वाला कहता है कि अजीर्णता की निवृत्ति के लिये भोजन नहीं किया। ठीक इसी प्रकार वेदोत्पादन के अभाव में भी प्रश्न सम्भव है, क्योंकि इसमें परमेश्वर की विद्या की (सफलता) सार्थकता बताना अभीष्ट है, अतः यहाँ कोई दोष नहीं। और यहाँ अनुत्पादन में तो प्रयोजन का अभाव है, अतः निषेधमुख से भाव-प्रयोजन को और भी सुदृढ़ करने के लिये अभावात्मक प्रश्न किया गया। जैसे कि नेति नेति कहकर स्वरूप तक पहुंचाने की ऋषियों की शैली है। और जो यह कहा है कि 'अनुत्पादन के अभाव रूप होने से' आपके इस अभाव रूप में क्या रूपता अभीष्ट है ? यह

बनाद् वा कथमपि न प्रश्नोद्भव-संभव: ? अपि च अभावस्य पदार्थत्वे ज्ञेयत्वं वाच्यत्वं प्रमेयत्वमभिधेयत्वं च सम्भवति एव। लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वाद् लक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धि: (न्या० २।२।८) इति लक्षणात् अलक्षितानां प्रमेयत्वे सिद्धे प्रश्नार्हता-संभावनाया: अक्षयत्वमेव। अतो महर्षि-दयानन्दस्य तत्र प्रश्नसंभावनायां न कश्चिद् शास्त्रीयप्रतिबन्ध:, अपि तु प्रशस्त्यास्पदमेवेदं प्रश्नकरणम्।

वे० पा० ४६३ तमे पृष्ठे यदुच्यते 'परमेश्वरे तदीयानन्तविद्यायां च प्रमाणानुपस्थानाद् बहु-निरर्थकं प्रजल्पितमिति' तत् प्रजल्पनं तु भवत्येव चरितार्थं भवति, यतोहि:—

अत्र विषये प्रथमं भवान् बोधयतु यत् परमेश्वरे 'प्रमाणेन' भवत: कोऽभिप्राय: ? शास्त्र-प्रमाणेन आहोस्वित् प्रत्यक्षादि-प्रमाणेन ? आद्येन चेत्, परमेश्वर-सत्ता-पुष्ट्यर्थं बहूनि प्रमाणानि सन्ति,

---

(अभाव) रूप आपका रूप विमोहने धातु से निष्पन्न है या कि करणार्थक रूप धातु से, दोनों ही पक्षों में विमोहन और स्तवन से प्रश्न कैसे भी सम्भव नहीं। और यह बात भी है कि अभाव की पदार्थता मानने पर ज्ञेयता, वाच्यता, और अभिधेयता सभी संभव हैं। जैसा कि गौतम मुनि कहते हैं कि लक्षित वस्तुओं में लक्षणों (चिह्नों) के अभाव से लक्षितहोने के कारण से अलक्षितों की प्रेमयता सिद्ध हो जायेगी। अतः महर्षि दयानन्द कृत प्रश्न-सम्भावना में कोई शास्त्रीय प्रतिबन्ध नहीं, बल्कि प्रश्न करना प्रशंसनीय ही है।

वे. पा. के पृ. ४६३ पर यह जो कहा है कि परमेश्वर में और उसकी अनन्त-विद्या में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया, अतः यह बहुत सारा निरर्थक प्रलाप है।' सो महाराज यह प्रजल्पन की बात आप पर ही चरितार्थ होती है क्योंकि:—

इस विषय में पहले आप यह बताइये परमेश्वर में प्रमाण के अभाव से किस प्रमाण से आपका आशय है ? क्या शास्त्र-प्रमाण से है तो परमेश्वर की सत्ता में बहुत से शास्त्र-प्रमाण उपस्थित हैं, जैसे 'यो भूतं च भव्यञ्चेति' अर्थात् परमात्मा भूत भविष्यत् और वर्त्तमान सबका अधिष्ठाता है यह अथर्ववेद का प्रमाण है' 'य आत्मदा बलदा' इत्यादि अर्थात् जो परमात्मा आत्मिक शक्ति और शारीरिक शक्ति का देने वाला है, यह यजुर्वेद का प्रमाण है। और 'स हि सर्वविदित्यादि अर्थात् वह सबको जानने वाला और सबका रचयिता है' यह

यथा हि :—'यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति इति अथर्वण:' 'य आत्मदा बलदा'...इति यजुष:, 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' इति सांख्यदर्शनस्य।

अथ यदि प्रत्यक्षादि-प्रमाणेन चेत् तदाऽपि सृष्टि-रचनायां नियमपूर्वक-वैज्ञानिक-व्यवस्था-दर्शनेन रचयितु: परमात्मन: सत्ता, अनुमानप्रमाणेन, घटपटादि-निर्माण-दर्शनेन कुम्भकार-तन्तुवायादिसत्तासिद्धिवत् सिध्यति योगिभिश्च तस्येश्वरस्य मानस-प्रत्यक्षत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणेनापि तत्सिद्धि:। मानस-प्रत्यक्षे च, 'नैवाऽसौ चक्षुषा ग्राह्यो न शिष्टैरिन्द्रियैरपि। मनसा तु प्रसन्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभि: ॥ इति प्रमाणं विद्यते ह्युपनिषद:।

ननु करपात्रिणा यदुक्तं 'न चानुमानं तत्र सम्भवति, तत्सम्बद्धलिङ्गादर्शनात्, इति चेन्न, 'परमेश्वरेऽनन्तविद्या अस्ति' इति-रूपायां दयानन्दोक्तौ परमेश्वरस्तु सिद्ध एव पक्ष: न तु साध्य:, तत्र अनन्तविद्याया: साध्यत्वात्।

सांख्य दर्शन का प्रमाण है। और यदि आपका अभिप्राय प्रत्यक्षादि प्रमाण से हो तो सृष्टि-रचना नियमपूर्वक वैज्ञानिक ढंग से दिखाई देने से, घट पटादि को को देखकर उनके निर्माता कुम्हार और जुलाहा-आदि की सत्ता सिद्धि के समान, ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध है। और योगियों के द्वारा परमात्मा का मानस प्रत्यक्ष होने से प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध है। और मानस-प्रत्यक्ष में नैवाऽसौ...इत्यादि अर्थात् वह परमात्मा चक्षुरादि इन्द्रियों से कभी गृहीत नहीं होता।' यह उपनिषद् का प्रमाण है।

करपात्री जी ने कहा है कि अनुमान की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हो सकती क्योंकि इससे सम्बद्ध कोई लिंग (चिह्न) दिखाई नहीं देता, पर यह अनुमान की बात आपके द्वारा उठाना सर्वथा अनुपयुक्त ही है क्योंकि 'परमेश्वर में अनन्तविद्या है' महर्षि की इस उक्ति में परमेश्वर सिद्ध पक्ष है साध्य नहीं क्योंकि उसमें अनन्त विद्या सिद्ध करनी है। आपका यह कथन भी कि "सब भूत-भौतिकपदार्थों की उत्पत्ति, इनके उपादानों का प्रत्यक्ष-ज्ञान रखने वाले किसी व्यक्तिविशेष की ज्ञान, इच्छा और क्रिया की प्रणाली से हुई है और शय्या प्रासाद आदि के समान विलक्षण कर्म होने से सामान्यतो-दृष्ट अनुमान के द्वारा भी ईश्वर सत्ता सिद्ध न होगी" निस्सार है क्योंकि घट पट शय्या प्रासाद आदि के

न च 'भूतभौतिकानि स्वोपादान-गोचरा-गोचरा परोक्ष-ज्ञानेच्छा कृतिमज्जन्यानि शय्याप्रासादादिवत् विलक्षण-कार्यत्वादिति सामान्यतो-दृष्टानुमानेनाऽपि न सेत्स्यति ईश्वरसत्ता' इति वाच्यम्, घट पट-शय्या-प्रासादादि-निर्मितौ कुम्भकारादीनां कर्त्तृत्व-दर्शना दनुमानं संगच्छते एव । न चापि सर्वज्ञेश्वरद्वारा सृष्टेः रचनायां कुम्भकारद्वारा घटपटादि-निर्माण-दृष्टान्तेऽपि कुम्भकारादीनां सर्वज्ञत्वादिकमपेक्षितं स्यात् इति वाच्यम्, एवं-विध-प्रतिबन्धस्योदाहरणेऽनावश्यकत्वेन शास्त्रे प्रतिपादनात् । दृष्टान्ते हि न सर्वांशिक-समानताऽपेक्ष्यते ।

अथ च तदीयानन्त-विद्यायां 'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः (ऋग् १।१६४।३९) अर्थाद् यस्मिन् अविनाशिनि आकाशवद् व्यापिनि परमेश्वरे सर्वविद्यामयाः (ऋचः) ऋगादयश्चत्वारो वेदाः सूर्यादिलोकाश्च स्थिताः सन्ति इति प्रमाणे विद्यमानेऽपि प्रमाणाभाव-कथनं निर्मूलमेव ।

भगवन् ! तदेवं भवता मुधैव स्वपाण्डित्य-प्रदर्शनाय सिद्ध-साधनतायाः अन्योन्याश्रयदोषस्य च कल्पना कृता अस्ति । वेदस्य आद्य-प्रमाणत्वात्, तत्प्रमाणेऽपि अन्य-प्रमाणाऽऽकांक्षायामनवस्था-दोष-प्रसक्तेः, नान्योन्याश्रय-दोषोद्भूतिरत्र संगच्छते ।

वेद-प्रामाण्ये सिद्धे परमेश्वरस्य-सिद्धिः, परमेश्वरस्य प्रामाण्ये च सिद्धे वेदस्य सिद्धिरिति ब्रुवन्नयं प्रच्छन्न-नास्तिकः समग्रानपि पौराणिकान् प्रतारयति । नित्यकरुणाशीलस्य परमात्मनः करुणा-कारणेन कथङ्कारं स्वातन्त्र्य-विघातो भवेदित्यत्र लेखकेन न किमपि साधकमुपस्थापितं, परमेश्वर-कारुण्यं च कादाचित्कं नैमित्तकमिति मत्वैवानेन, एवं धारणा कृता ।

प्रकृतेः परमाणूनां, प्राणिनां पूर्व-जन्म-कर्मणां च साहाय्यं बिना परमात्मनो जगद्रचने असामर्थ्यं मत्वा यत् पारतन्त्र्यं साधितं, तद-ज्ञानमेव भवतो दर्शनस्य । नैतेन पारतन्त्र्यं कथयितुमुचितम्, यतोहि सापेक्षता-मात्रं न पारतन्त्र्यस्यकारणं, परं स्वकार्ये परेच्छया विघात-संभावनैव तत्कारणं भवितुमर्हति, तन्नात्र घटते । न च जड-प्रकृत्यादिषु तादृशीच्छा सम्भवति, इच्छायाश्चेतन-धर्मत्वात् । तथा च न जीवोऽपि विघ्नमुपस्थापयितुमर्हति, अल्पज्ञत्वाद् अल्पशक्तिमत्त्वाच्च । तदा कथं पारतन्त्र्यं परमात्मनः ? इति बोध्यताम् । किञ्च :—

निर्माण में कुम्हार आदि का कर्त्तृत्व तो दिखाई पड़ता ही है, अतः इस अनुमान से कि 'जहाँ-जहाँ रचना है वह किसी निमित्त-कारण से ही है' इस कथन में यह कहना कि 'सृष्टि का कर्त्ता परमेश्वर तो सर्वज्ञ है परन्तु कुम्भकार आदि सर्वज्ञ नहीं, अतः दृष्टान्त का अभाव है।' सर्वथा त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि न्याय शास्त्र में कुम्भकार आदि के उदाहरण में उसके सर्वज्ञ होने के प्रतिबन्ध का कहीं प्रतिपादन नहीं किया गया है। दृष्टान्त में पक्ष विपक्ष की बुद्धिगत आंशिक समानता ही होती है सर्वांशिक नहीं। और उस परमात्मा की अनन्त-विद्या के विषय में 'ऋचोऽक्षरे···इत्यादि अर्थात् जिस अविनाशी आकाशवत् व्यापक परमात्मा में सर्वविद्यामय ऋगादि चारों वेद और सूर्यादि लोक स्थित हैं, इस प्रमाण के होते हुये प्रमाण का अभाव कहना सर्वथा निर्मूल है।

महाराज ! इस प्रकार आपने व्यर्थ ही अपना पाडिण्त्य दिखाने के लिए सिद्ध-साधना की और अन्योन्याश्रय दोष की कल्पना की है। वेद तो आदि प्रमाण हैं उनमें अन्य प्रमाण की आकांक्षा करने से अनवस्था दोष आयेगा जो यहाँ संगत नहीं है। वेद की प्रामाण्य-सिद्धि में परमेश्वर की सिद्धि और परमेश्वर की प्रामाण्य सिद्धि में वेद की सिद्धि' यह कहने वाले प्रच्छन्न नास्तिक के समान आप समस्त पौराणिकों को धोखे में रख रहे हो। नित्यकारुणिक परमात्मा का करुणा के कारण कैसे स्वतन्त्रता का विघात हो जायेगा ? प्रभु की करुणा को नैमित्तक समझ कर ही लेखक ने ऐसी धारणा बना ली और कोई साधक प्रमाण उपस्थित नहीं किया।

प्रकृति के परमाणु और प्राणियों के पूर्वजन्म के कर्मों की सहायता के बिना परमात्मा के जगत् रचने में असमर्थता मानकर पराधीनता सिद्ध की है। इससे आपके दर्शन-शास्त्रों के ज्ञान की पोल खुल गई, क्योंकि सापेक्षता-मात्र ही पारतन्त्र्य का कारण नहीं होता, प्रत्युत अपने कर्मों में दूसरे की इच्छा से विघात की संभावना ही उसका कारण हो सकती है, वह यहाँ घटित नहीं है। जड़ प्रकृति आदि में वैसी इच्छा हो नहीं सकती, क्योंकि इच्छा चेतन का धर्म है। जीव भी विघ्न नहीं कर सकता; क्योंकि वह अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है। तब बताइये, परमात्मा का पारतन्त्र्य कैसे हुआ ?

अधुना तु विरम्यतां सखे ! भवता शास्त्र-विरुद्ध-कल्पनात् ।
ऋषि—मार्ग-गमस्तु कीर्तये, भविता चेह परत्र शर्मणे ।।

वे० पा० (४९४) इत्यत्र यदुक्तं "स्वतन्त्रस्य करुणाधीनापत्तेः" इति, तत् किं विचार्योक्तं ? किं भवन्मते परेशो न स्वभावतः कारुणिकः ? भगवन् ! तस्य करुणा तु न हैतुकी, प्रत्युत शाश्वतिकी । शाश्वतिक-वेद-ज्ञान-दान-शीलत्वात्तस्य । अपि चैकरसे ब्रह्मणि जीवैः स्वानुग्रह-दृष्ट्या एव इमे करुणादि-गुणाः प्रस्फुटीभूता दृश्यन्ते । न च कन्द-मूल-फलादिवत् वेदस्यापि तद्रचितत्वे अनित्यत्वापत्तिः स्यादिति वाच्यं, वेदानां पुस्तकादि-रूपेणाऽनित्वत्वेऽपि ज्ञानरूपेण नित्यत्वेन तेषामवस्थितेः । अतः भवद्दोषोद्भावना, निरर्थिकैव । अत्र हि तावत् श्रीमता करपात्रिणा प्रतिमार्चने स्रगशनादि-तर्पणोत्पन्न-तात्कालिक-करुणाभावस्यैव स्मृतत्वात् परमात्मनः करुणाऽपि पूजा-कर-पात्राधीनैव सङ्केतिता ।

अहो ! अनूहन-शीलाय भवते सर्वमसम्बद्धमसङ्गतं च प्रतिभाति ऋषिभाष्य-भूमिकागतमिति महदाश्चर्यम् । अत्राऽवधेयं यत्—हस्त-पादाद्यवयवैर्विना यदा एतावद्बृहत्स्थूलं जगत्रचितवानीश्वरः, तदा सूक्ष्म-ज्ञान-रूपत्वात्सूक्ष्मतमेनेश्वरेण वेदानां (रचनं) प्रकाशनं कथंन संभाव्यते ? पुस्तक-लेखन-कार्यं तु कालानन्तरमृषिभिरेव-कृतं नेश्वरेणेति विज्ञेयम् । परमेश्वराय लेखनी-मसीपात्रादि-साध-

---

इसलिये हे मित्र ! अब भी शास्त्रों के विरुद्ध कल्पनालोक में विचार बन्द करो और ऋषि मार्ग का अनुसरण करो । यह अनुसरण यहाँ कीर्ति के लिये और परलोक में कल्याण के लिए होगा ।

वे. पा.पृ. ४९४ पर यह जो कहा है कि 'स्वतन्त्र ईश्वर करुणा के पराधीन हो जायेगा ।' सो यह आपने क्या विचार कर कहा ? क्या आपके मत में परमेश्वर स्वभाव से ही कारुणिक नहीं है ? महाराज ! उसकी करुणा तो हेतु विशेष पर आधारित नहीं होती, अपितु शाश्वतिक वेद ज्ञान की दानशीलता के कारण शाश्वतिक है एक रस ब्रह्म में जीवों को अपने पर अनुग्रह की दृष्टि से कारुणिक आदि गुण प्रस्फुट दिखाई पड़ते हैं ।

कन्द-मूल फल के समान, उसके द्वारा वेद की भी रचना होने से अनित्यता आयेगी' ऐसा कथन भी ठीक नहीं क्योंकि पुस्तकादि रूप में वेदों की अनित्यता

नानां नाऽवश्यकता । स तु ऋषीणां हृदयेषु विराजमानो वेदवाणीं प्रकाशयति । तस्य तु पराशक्तिः मन्यते, यथा चोक्तं—'पराऽस्य-शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया चेति ।" (उप०)

एतत् प्रमाणानुसारं स्वाभाविक-ज्ञानादिभिरेवाऽसौ सर्वं प्रपञ्च-मुत्पादयति । अपि च नाऽस्मदादिवत् तस्य ज्ञानेच्छाप्रयत्नाः सन्ति, पूर्णत्वात्तस्य, तत्पूर्णता-साफल्यं तु अपूर्णजीवानां साहाय्यकरणे एव । एवं स्थिते न च 'तदैक्षत' सोऽकामयत' इत्यादि-वचनमसंगतं स्यादिति वाच्यं, ईश्वरस्यास्वाभाविकेच्छामात्रप्रयत्नस्येक्षण-शब्दवाच्यत्वात् । तत्कामनायामपि नित्य-कामत्वस्य च विवक्षितत्वात् ।

होने पर भी ज्ञान के रूप में नित्यता अक्षत है । अतः आपकी दोषोद्भावना निरर्थक है ।

ऐसा लगता है कि यहाँ करपात्री जी के मस्तिष्क में प्रतिमा-पूजन के समय माला, अशन (भोग) आदि से तर्पण के समय उत्पन्ने आकस्मिक तात्कालिक करुणाभाव ही चक्कर लगा रहा था । अतः उन्होंने परमात्मा की करुणा भी कर-पात्र के अधीन ही संकेतित की है ।

अरे क्या तर्कशीलता का सर्वथा अभाव हो गया जो आपको ऋषिभाष्य भूमिका गत सब कुछ असम्बद्ध और असंगत प्रतीत हो रहा है । यहाँ यह समझना चाहिये कि हस्तपादादि अवयवों के बिना जब ईश्वर ने इतना बड़ा स्थूल जगत् बना दिया तो सूक्ष्म ज्ञानरूप वेदों के प्रकाशन की संभावना को क्यों नहीं मानते पुस्तक लेखन का कार्य तो कालान्तर में ऋषियों ने ही किया न कि परमात्मा ने । परमात्मा को मसी आदि साधनों की आवश्कता नहीं, वह ऋषियों के हृदय में विराजमान होने से वेद वाणी को प्रेरित करता है ।

उसकी पराशक्ति है । जैसा कि—परास्य शक्तिरित्यादि वचन से स्पष्ट है । वह स्वाभाविक ज्ञान-बल-क्रियादि के द्वारा ही इस समस्त प्रपञ्च को उत्पन्न करता है । उसके पूर्णरूप होने से इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न हमारे जैसे नहीं है । उसकी पूर्णता की सफलता तो अपूर्ण ज्ञान वाले जीवों की सहायता करने में ही है । उक्त स्थिति में 'तदैक्षत' 'सोऽकामत' इत्यादि वचन असंगत हो जावेंगे ऐसा नहीं है, क्योंकि 'ईक्षण' और 'अकामयत' शब्दों से ईश्वर की स्वाभाविक इच्छा-मात्र प्रयत्न ही अभीष्ट है और कामना में भी नित्यकामत्व विवक्षित है । वे. पा. पृ. ४९५ पर 'भूमिका' का कि 'वेद ऋषियों के ज्ञान के

वे० पा० पृ० ४६५ इत्यत्र यदुक्तं 'वेदाः ऋषीणां ज्ञानमध्ये प्रेरिताः इत्यसंगतेः इति' तदिदमसंगतत्वं तु केवलं मन्दधियामेव-भवितुमर्हम्, यतो हि ऋषि—दयानन्द-मतस्यैतस्य समर्थनं भवद्गुरुः सायणाचार्यः विदधाति, तथा हि:—"ईश्वरस्याग्न्यादि-प्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यमिति" । अतः आदौ वेदाः ऋषीणामात्मसु व्यापकत्वात्परमात्मना प्रेरिताः, तदनु श्रुति-परम्परया स्थिताः, कालान्तरे तु पुस्तकरूपेण ऋषिभिरेव निबद्धा इत्याशयः ।

यच्चोक्तः—'तत्र ज्ञानस्य निराकारत्वात् अमूर्तत्वाच्च कथं मध्यत्व-निश्चयः' इति तदपि बुद्धिन्यूनत्वद्योतकम् । वस्तुतः बुद्धिरेषा संग्रहालये एव न्यसनीया याऽविचार्यैव एवं प्रश्न-तति प्रस्तौति ।

बुद्धिमन् ! मध्यशब्दः न केवलं केन्द्र-वाची, अपि तु निष्पक्ष, न्याय्यान्तराद्यर्थवाची अपि । तथा च कतिपयान्युदाहरणानीह निदर्श्यन्ते :—

मध्य में प्रेरित किए, यह कथन असंगत है" सो यह असंगतत्व केवल मन्दबुद्धि लोगों के लिए ही हो सकता है, क्योंकि ऋषिदयानन्द के उक्त कथन का आपके गुरु सायणाचार्य ने समर्थन किया है कि 'ईश्वर का वेद निर्मातृत्व अग्नि आदि ऋषियों का प्रेरक होने से मानना चाहिए" । इसलिये आदि में वेद ऋषियों की आत्माओं में परमात्मा ने प्रेरित किये । पश्चात् श्रुति (श्रवण) परम्परा से लोगों में हुए प्रचारित रहे, फिर कालान्तर में विद्वान् पुरुषों ने उनको पुस्तक रूप में निबद्ध कर दिया, यही ऋषि दयानन्द का आशय है ।

और आपका कथन कि, ज्ञान के निराकार तथा अमूर्त होने से उसके मध्यत्व का निश्चय कैसे होगा ?' आपकी बुद्धि की न्यूनता का परिचायक है । आपकी यह बुद्धि तो किसी संग्रहालय में हो रखने योग्य है, जो बिना विचारे ही ऐसे प्रश्नों को प्रस्तुत करती है ।

श्रीमान् जी ! मध्य शब्द केवल केन्द्रवाची ही नहीं है, अपितु निष्पक्ष, न्याय, बीच आदि भी इसके अर्थ हैं । उदाहरणार्थ :—मनुस्मृति में कहा है कि उदय और अस्त समय सूर्यमण्डल को न देखे···तथा आकाश के मध्यगत सूर्य को भी न देखे' (मनु. ४।३७) यहाँ मनु ने मध्यत्व का निश्चय कैसे निराकार आकाश में किया ? और आप भी कैसे करोगे । इसी प्रकार टकराते हुए दो विभिन्न विचारों में मध्य विचार दोनों के सामञ्जस्य के लिए हो जाता है और आकाश के मध्य में, बीच में यह अर्थ निकलता है ।

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं च वारिस्थं न मध्यं नभसोगतम् ।। (मनु० ४।३७)

इह नभसो निराकारत्वेऽमूर्तत्वे च कथमयं मनुना मध्यत्व-निश्चयः कृतः ? अपि च द्वयोः भिन्नविचारयो-र्विवदमानयोः यथा मध्य-विचारः उभयोः सामञ्जस्याय जायते, यथा च व्योम्नो मध्ये अन्तरे इति गम्यते । एवमेवाऽत्रापि ज्ञानमध्ये इत्यस्य ज्ञानाभ्यन्तरे इति गम्यते । एतस्मादेव कारणात् हिन्द्यां 'ज्ञान में' इत्येवार्थो महर्षिणा कृतः ।

जीवानामणु-परिमाण-कथनेन सूक्ष्मत्वाभ्युपगमनं प्रतीयते, तथा च—यस्मादण्वपि भूतानाम् (मनु० ६।४०) इत्यत्र अणु सूक्ष्ममित्येवार्थो गम्यते । जीवात्मनः मध्यम-परिमाणत्वे स्वीकृते तु विस्ताराऽऽयाम-गहनादिगुणवत्वात् विनाशापत्तिः स्यात्, अपि च भवान् वेदानां सङ्क्रमणेन निस्सरणं पृथग्भावं च मन्यते, न तत्संभवति, गुणगुणिनोरपार्थक्यात्, नहि वेदानां कदापि परमेश्वरात्पार्थक्यम् संभवति ।

यदप्युक्तं "कथमन्यत्र ज्ञानस्य सङ्क्रमणमिति," तदपि भवता अनभ्यूढम्, दार्शनिक-प्रज्ञाऽभावात् । निरवय-ज्ञान-रूपास्तु वेदाः । अग्न्यादीनां स्वाभाविक-निर्मल-बुद्धे ज्ञान-ग्राहकत्वात्, एतन्निरवय-ज्ञाने सङ्क्रान्ताः भवन्ति, पूर्वत एवेश्वरस्य सर्वव्यापकत्वेन तत्राप्युपस्थितेरक्षुण्णत्वात् ।

इसी प्रकार यहाँ भी 'ज्ञानमध्ये' का अर्थ 'ज्ञान के बीच में' निकलता है । इसीलिए महर्षि ने हिन्दी में 'ज्ञान में' यह अर्थ किया है ।

जीवों का अणु-परिणाम कहने से सूक्ष्मत्व का अर्थ प्रतीत होता है । जैसे कि मनुस्मृति में (६१,४०) स्थल में सूक्ष्म अर्थ होता है ।

यदि जीवात्मा का मध्यम परिमाण माना जाये तो उसमें लम्बाई चौड़ाई गहनतादि-गुण-युक्त होने से नाशवत्ता प्राप्त होगी ।

आप संक्रमण से निस्सरण और पृथग्भाव समझते हैं, जो कि संभव नहीं हैं; क्योंकि गुण और गुणी का कभी पार्थक्य नहीं होता, अतः परमात्मा से वेदों की पृथक्ता भी संभव नहीं ।

वस्तुतस्तु तेषामग्न्यादीनाम् ईश्वर-प्रणिधानेन अव्यवहितत्वात् तदन्तःकरणानाम् ईश्वराऽनुग्रहेण दीप्तत्वात् परमेश्वरस्य च योगेन प्रत्यक्षत्वात् सर्व-वेद-प्रकाशनं सर्वथा संगच्छते। यच्चापि पृष्टं भवता—'पुस्तकरूपाणां ज्ञानरूपाणां च वेदानां को भेद इति' अत्रोच्यते, ज्ञानरूपेण तु न कश्चन भेदः, परं स्थूलजडाधारः प्रथमः, सूक्ष्म-चेतनाधारश्च द्वितीय इति तु महान् भेदः। कल्पित-वर्णाकृति-संकेतिताः मसी-मुद्रणादि-रचिताः पुस्तकस्थाः वेदास्तु अम्बिका प्रसाद-व्यास-वर्णनायामनुबद्ध मर्हन्ति—यथाहि—'वीथीषु विच्छिद्य विक्षिप्यन्ते' इति, परं न ज्ञानरूपा वेदाः बिच्छेत्तुं विक्षेप्तुं च शक्यन्ते।

यच्चाप्युक्तं—'नहि परमेश्वरे समवाय-सम्बन्धेन स्थिताः वेदा अन्यत्र गन्तुं प्रभवन्ति' इति। नूनमेतत्तु भावत्क-शास्त्रीय-ज्ञानाभाव-सूचकमेव, यतो हि ब्रह्म सर्वगं प्रत्यात्मव्याप्तं च, तादृशस्य ब्रह्मणः

और आपने यह जो कहा कि—'ज्ञान का संक्रमण अन्यत्र अर्थात् जीवात्मा में किस प्रकार हुआ ?' सो आप दार्शनिक-प्रतिभा के अभाव में विचार न कर सके। निरयव-ज्ञानरूप वेद, अग्नि वायु आदि ऋषियों के निरवय-ज्ञान में वह निर्मल-बुद्धि के ज्ञान-ग्राहक स्वाभाविक गुण के कारण, संक्रान्त (प्रतिभासित) हो गये; क्योंकि ईश्वर के सर्वव्यापक होने से वह वहां (उनकी बुद्धियों में भी) उपस्थित था।

वास्तविकता यह है कि उन अग्नि आदियों का ईश्वर में प्रणिधान (स्थिति) होने से उनके अन्तः करणों के दीप्त होने पर परमेश्वर के योग के द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने से, सब वेदों का प्रकाशन सर्वथा सङ्गत है।

और आपने यह जो पूछा है कि "पुस्तकस्थ और ज्ञानस्थ वेदों में क्या भेद है ?" सो ज्ञानरूप में तो कोई भेद नहीं, परन्तु प्रथम पुस्तकरूप स्थूल-जड़ पर आधारित हैं और ज्ञानस्थ निराधार सूक्ष्मचेतना पर आधारित हैं। यही दोनों का महान् भेद है।

कल्पित-वर्णाकृति-संकेतित जो स्याही आदि से रचित वेद-पुस्तक हैं, वे अम्बिका प्रसाद व्यास के वर्णन से अनुबद्ध हो सकती हैं, जैसे कि—"वेद गलियों में फाड़कर फेंके जा सकते है। पर ज्ञान-रूप वेद फाड़कर नहीं फेंके जा सकते। तथा यह कथन है कि—"परमेश्वर में समवाय सम्बन्ध से स्थित वेद अन्यत्र नहीं जा सकते" यह आपके शास्त्रीय ज्ञान के

तेषामषीणां च ज्ञान-सान्निध्ये न विप्रकृष्टता, अतस्तेषां वेदानामन्यत्र गमनाऽगमनस्य प्रश्न एव कुतः ? वस्तुतस्तु, अध्यापकस्य ज्ञानं सावयव-पदार्थवत् शिष्यं नोपगच्छति। अपितु शिष्यस्यात्मनि गुरोरव्यापकत्वात् शब्दमयं ज्ञानं कर्णेन्द्रिय-द्वारा बुद्धेर्ग्राहकतया समुपलभ्यते शिष्येण। परमेश्वरस्य तु अग्न्यादिमहर्षीणां हृदयेषु व्यापकत्वात् शब्दस्य कर्णेन्द्रियस्य च नाऽवश्यकता वेद-प्रकाशने।

वेदोत्पादन-प्रयोजनं तु जीव-कल्याणमेव, तच्च भवताऽपि अभ्युपगतं, यथाहि 'परमेश्वरो यथा प्रजाहितार्थं जगद् रचितवान् तथैव तद्रक्षणार्थं यज्ञादिलक्षण-धर्मप्रवर्त्तनाय तन्मूलभूतान् वेदान् अग्न्यादिभ्यो दुदोह' इति। तदेवं स्वयं समुल्लिख्यापि भवान् स्मृतिभ्रंशदोषात् स्वपूर्वापर-वर्णितमपि न स्मरति। यच्चोक्तं 'वेदप्रतिपादने प्रयोजनं प्रतिज्ञाय किमुत्तरं प्रादात्' इति - वचस्तु महर्षिग्रन्थानुशीलनाऽभावादेव प्रोक्तं भवता, यतो हि ऋषिणा तत्रैव 'स्थले तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूत-वेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता सम्पादिता' इत्युक्तमस्ति।

अभाव का द्योतक है, क्योंकि ईश्वर सर्वत्र और सबकी आत्मा में व्याप्त है। अतः परमात्मा के और उन ऋषियों के ज्ञान की समीपता होने पर दूरी नहीं रही, तब वेदों के गमनागमन का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः अध्यापक का ज्ञान अन्य सावयव वस्तु के समान शिष्य को प्राप्त नहीं होता। शिष्य की आत्मा में गुरु के व्यापक न होने से उच्चरित शब्दमय ज्ञान, कर्णेन्द्रिय के माध्यम से शिष्य की बुद्धि की ग्राहक-शक्ति के द्वारा पहुंचाता है। परमेश्वर तो अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में व्याप्त है, इसलिए उसको शब्द-कर्णेन्द्रियादि की वेद प्रकाशन में कोई आवश्यकता नहीं।

वेदों के उत्पादन का प्रयोजन तो जीवों का कल्याण ही है। जिसको कि आपने भी स्वीकार किया है, जैसे कि—'परमेश्वर ने जिस प्रकार प्रजा के हित के लिए जगत् को रचा है। उसी प्रकार प्रजा की रक्षा के लिये, यज्ञादि लक्षण वाले धर्म के प्रवर्त्तन के लिए उसके कारण-भूत वेदों को अग्न्यादि को दुहा। इस प्रकार स्वयं लिखकर भी अपने पूर्वापर लेख को स्मृतिभ्रंश-दोष के कारण सोच नहीं पाये। आपने यह जो कहा है कि—वेदों के प्रतिपादन में प्रयोजन की प्रतिज्ञा करके क्या उत्तर दिया ? सो यह कथन

वे० पा० पृ० ४९६ इत्यत्र यच्चोक्तं—'धर्मार्थ-काम-मोक्ष-सिद्धया बिना परमानन्द एव न स्यादिति स्वामि-दयानन्द-कथनं पुरुषार्थ-तत्त्वानभिज्ञानमूलकमेवेति", तदपि निर्मूलमेव, यच्च महर्षिदयानन्देन प्रोक्तं तत्सर्वथा समूलं सत्यञ्च, यतः परमानन्द-प्राप्तिस्तु धर्मार्थ-काम-मोक्षसिद्ध्यैव भवति। त्रिवर्गो हि शास्त्र-साधितो मोक्षे साहाय्यकरः। धर्मानुगौ अर्थकामौ एव च प्रशस्तौ प्रोक्तौ।

अपि च ऋषिवाक्ये सिद्धिशब्द-प्रयोगो महत्त्वपूर्णः, तस्यायमाशयो यत् धर्मानुकूलौ अर्थकामौ सिद्धौ नाम परिपक्वौ स्यातामर्थात् पुनः प्रच्यवनाय बलवन्तौ न स्यातामिति भावः। मोक्षे सिद्धे न तत्साधनानामावश्यकता, तत्फलावाप्तेः। यथा चोक्तमाचार्य-शङ्करेण केनोपनिषद्भाष्ये "आत्म-तत्त्व-याथात्म्य-विज्ञानाद् विनिवृत्ताज्ञान—बीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञा" इति (के. ३।३।१)।

महर्षि के ग्रन्थ के अध्ययन के अभाव से है, क्योंकि महर्षि ने वहीं पर ही स्पष्ट किया है:—"इसलिए ईश्वर ने अपने विद्यास्वरूप वेदों के उपदेश द्वारा वेदों की प्रयोजन-सार्थकता सम्पादित की है।"

वे. पा. के ४९६ पृष्ठ पर आपने कहा है कि स्वामी दयानन्द का यह कथन ठीक नहीं कि 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के बिना परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती' सो आपका यह आक्षेप पुरुषार्थतत्त्व को न समझने के कारण है। ऋषिदयानन्द ने जो बात कही है, वह सर्वथा सत्य है, क्योंकि परमानन्द की प्राप्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि से ही होती है। शास्त्रसाधित त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) मोक्ष में सहायक होता है और धर्मानुकूल अर्थ और काम ही प्रशंसनीय माने गये हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ ऋषिवाक्य में सिद्धि-शब्द का प्रयोग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जिसका आशय यह है कि धर्मानुकूल अर्थ और काम इस प्रकार सिद्ध अर्थात् परिपक्व हो जावें कि वे फिर पतन न करा सकें। मोक्ष की सिद्धि होने पर उसके साधनों की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि मोक्ष का परमानन्द रूप फल प्राप्त हो जाता है। जैसा कि आचार्य शंकर ने केनोपनिषद् भाष्य में कहा है कि **आत्मतत्त्व के वास्तविक विज्ञान से आत्मा के अज्ञान बीज के नष्ट होने का नाम ही मोक्ष है। (के. ३।३।१)**

करपात्रिन्, अपि च आश्चर्यमिदमत्र यद् भवानिह ऋषेर्वाक्यार्धमुद्धृत्य प्रवञ्चनां करोति, महर्षेः समस्तलेखस्तु अस्त्येवं:—

"यदि परमेश्वरः स्ववेद-विद्याया उपदेशं मनुष्येभ्यो नाकरिष्यत् तर्हि धर्मार्थकाम-मोक्षाणां सिद्धिः यथावत् कस्मैचिदपि नाऽभविष्यत्। तां विना च परमानन्दोऽपि न कस्यापि स्यादिति"।

भगवन्! तदेतत् प्रवञ्चनं भवते न शोभते। पाठे त्वेतस्मिन् सति सर्व-मनुष्य-दृष्ट्या पुरुषार्थ-चतुष्टयस्योपपन्नता सिद्धा। तथा चोक्तं मनुना :—

अनधीत्य द्विजो वेदान् अनुत्पाद्य तथा ऽऽत्मजान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः। (म. ६।३७)
अपि च
धर्मार्थप्रभवं चैव, सुखसंयोगमक्षयम् (म. ६।६४)

अस्य श्लोकस्य टीकायां स्पष्टमाह कुल्लूकभट्टः। धर्महेतुकोऽर्थो ब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्प्रभवं मोक्षलक्षणम् अक्षयं ब्रह्म सुखसंयोगं चिन्तयेदिति।

अतः सिद्धमिदं यत् मनुष्यो धर्मार्थकामैः संसार-यात्रां यथायथं

करपात्री जी महाराज! यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि आपने यहां ऋषि के आधे वाक्य को उद्धृत करके छल किया है, समस्त लेख इस प्रकार है 'यदि परमेश्वर अपनी वेद-विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये नहीं करता, तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की यथावत् सिद्धि किसी को न होती और उसके बिना परमानन्द भी किसी को नहीं मिलता'। महाराज! यह प्रवञ्चन आपको शोभा नहीं देता। इस पाठ के अनुसार सब मनुष्यों की दृष्टि से पुरुषार्थ चतुष्टय की उपयोगिता सिद्ध है। जैसा कि मोक्ष के लिये धर्मादि-पुरुषार्थ की उपयोगिता को मनु महाराज ने बतलाया है:—द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, वेदों को बिना पढ़े हुये, सन्तान की उत्पत्ति किये बिना तथा यज्ञों को बिना किये, यदि मोक्ष की इच्छा करता है तो वह गिरावट की ओर जाता है। तथा च, धर्म अर्थ से उत्पन्न अक्षय सुख-संयोग को प्राप्त करे। इस श्लोक की टीका में कुल्लूकभट्ट ने स्पष्ट कहा है—**धर्महेतुक अर्थ ब्रह्म का साक्षात्कार है उससे उत्पन्न मोक्षलक्षण अक्षय ब्रह्म सुखसंयोग का** चिन्तन करे।

संसाध्य मोक्ष-सिद्धया च दुःखात्यर्थ-विमोक्षणं सम्पाद्य परमानन्दं प्राप्नुयात् धर्माविरुद्धौ अर्थकामौ साधयित्वा मोक्ष-सिद्धिं ततः परमानन्द-प्राप्तिं चेति।

भवार्णव-तरणाय सामान्यतया त्रिवर्गस्य पोतरूपत्वात् चतुर्थस्याप्यपरिहार्यत्वम्।

मोक्षप्राप्तौ त्रिवर्गस्य वैशिष्ट्यमिह न विवक्षितं, न चोल्लिखित स्वामिना तत्। एतच्च :—

अधीत्य विधिवद् वेदान्, पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥ (मनु.६।३६)

इत्यादिना संसारान्मोक्षणं यावदेव त्रिवर्गस्य साधनत्वं मनुनाऽपि समर्थितम्।

यच्चाप्युक्तं भवता 'त्रिवर्ग-विशिष्टस्यापि मोक्षस्य परमानन्द-जनकत्वं तदा तु संन्यासानुपपत्तेरिति' तत् तु सत्यमेव, अनियन्त्रितेन्द्रियाणां गालि-दान-विचक्षणानां राग-द्वेष-प्रवणानां भवादृशां कृते तु सर्वथा संन्यासानुपपत्तेः।

अतः सिद्ध है कि मनुष्य, धर्म, अर्थ और काम के द्वारा संसार की यात्रा को ठीक-ठीक सिद्ध करके मोक्ष की सिद्धि के द्वारा अत्यन्त दुःख विमोक्षण' प्राप्तकर परमानन्द का लाभ करे। संसार-सागर को पार करने के लिये (धर्म अर्थ काम) त्रिवर्ग सामान्यतया एक जहाज के समान हैं चतुर्थ मोक्ष भी परमानन्द के लिये अपरिहार्य है। मोक्ष की प्राप्ति में त्रिवर्ग का वैशिष्ट्य यहाँ विवक्षित नहीं है और नहीं स्वामी जी ने इसका उल्लेख ही किया है,। स्वामी जी की इस बात का 'अधीत्य विधिवत्' इत्यादि श्लोक के द्वारा मनु महाराज ने समर्थन किया है।

लेखक ने यह जो कहा है कि 'यदि त्रिवर्ग विशिष्ट मोक्ष भी परमानन्द का हेतु है तो संन्यास की वैधता सिद्ध न होगी' सो यह बात ठीक ही है, क्योंकि आप जैसे लोग, जो इन्द्रियों पर नियन्त्रण न करें और दूसरों को गाली देने में प्रवीण और राग द्वेष करने में निपुण हों; उनके लिये तो पूर्णतया संन्यास की अपात्रता ही है।

भगवन्, श्रूयतां, स्वामिना दयानन्देन मोक्षाय त्रिवर्गस्य अनिवार्यता नेह प्रत्यपादि, तदवगमन-न्यूनत्वमेवात्र भवतः। तेन तु स्व-'भूमिका'-भाषायां सुस्पष्टमेव व्याख्यातं यत् "जो परमेश्वर अपनी विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिए न करता तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् न होती, उसके विना परम आनन्द भी किसी को न होता"

अपि च धर्माऽविरुद्धौ अर्थकामौ मोक्षे सहायकौ एव ततो मोक्ष-सिद्धया परमानन्दावाप्तिः, अत एवोक्तम् ऋषिणा ब्रह्माण्डस्थोत्कृष्ट-सर्व-पदार्थ-प्राप्त्या यावत्सुखं भवति न तावद् विद्या-प्राप्ति-सुखस्य सहस्रतमेनाऽप्यंशेन तुल्यं भवति' इति।

वे. पा. ४९६ तमे पृ. २ य पङ्क्तौ यदुक्तं :—"किं परमानन्दो मोक्ष-लक्षणात् पुरुषार्थात् भिन्नोऽभिन्नोवा ? नाद्यः, मोक्ष-भिन्नस्य परमानन्दस्याऽप्रसिद्धेः। न द्वितीयः, तस्यैव तद्धेतुत्वानुपपत्तेः" इति, तदप्यविचार्यैव प्रोक्तम्, अवसानार्थक-मोक्ष् धातोरत्र निष्पन्नत्वान्मोक्ष

महाराज, सुनिये, स्वामी जी महाराज ने मोक्ष के लिये त्रिवर्ग की अनिवार्यता कहीं भी प्रतिपादित नहीं की है। उसके समझने में आपकी ही कमी है। उन्होंने तो अपनी भाष्य भूमिका की भाषा में स्पष्ट ही लिखा है कि 'जो परमेश्वर अपनी विद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता, तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि, किसी को यथावत् न होती, उसके बिना परम आनन्द भी किसी को न होता।

धर्म से अविरुद्ध अर्थ और काम मोक्ष में सहायक होते हैं फिर मोक्ष की सिद्धि होने पर परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसी लिये ऋषि ने कहा है 'ब्रह्माण्ड के सब उत्कृष्ट-पदार्थों की प्राप्ति से जितना सुख होता है उतना, विद्या (मोक्ष-विद्या) की प्राप्ति के सुख का हजारवां अंश भी नहीं होता।

वे. पा. के ४९६ वे पृ. की २ य पंक्ति में जो कहा है कि "क्या परमानन्द, मोक्षलक्षण वाले पुरुषार्थ से भिन्न है या अभिन्न ? पहला तो है नहीं, मोक्ष से भिन्न परमानन्द की प्रसिद्धि न होने से। दूसरा पक्ष भी नहीं क्योंकि वही स्वयं जो साध्य है, वह साधन नहीं हो सकता।" आपका यह सब कथन अचिन्तन-मूलक होने से ठीक नहीं। यहाँ पर अवसाने (अन्त) अर्थ वाली

शब्दस्य केवलं दुःख-निवृत्तिरेवार्थः न त्वानन्द-प्राप्तिः, सा तु तदनन्तरं फलं तस्य। यथा हि लोके बन्धनान्मुक्तिः स्वातन्त्र्यमुच्यते न तु सुख-साधनावाप्तिः।

भगवन्, अपि च मोक्ष-भिन्नस्य परमानन्दस्या प्रसिद्धे रिति कथनं तु तयोः सूक्ष्मभेदस्यानाकलनादेव संभवति, अन्यथा "ब्रह्मज्ञानेन संसाराज्जीवेन मोक्षे प्राप्ते परमानन्दः आस्वाद्यते" इत्यत्र ज्ञानाऽभिन्नत्वे मोक्षे तदभिन्नत्वे च परमानन्दे न करणाधिकरण-कर्त्तृत्व- संगतिरुपपद्येत, अतः तत्स्थल-प्रयुक्त-शब्दस्य आशयस्तत्रैव द्रष्टव्यः।

यच्च द्वितीये विकल्पे, 'यज्ज्ञानं परमानन्दाभिन्नं कथयितुं न शक्यते, स्वयं तस्य ज्ञानस्य स्वस्मिन् करणत्वाभावाद्' इति यदुक्तं तदपि न युक्तं, शास्त्रवचनेषु असङ्गत्यापत्तेः।

वस्तुतस्त्वत्र साधनार्थक-मोक्ष-शब्दस्य प्रयोगः, अन्यत्र साध्यार्थे स्वाभिन्नतैव, यथा "मोक्षाख्यं परब्रह्म-प्राप्तिलक्षणं सर्वानन्द-मयमि"ति। अत्र मोक्षानन्दमय-ब्रह्मणोऽभिन्नताऽऽशयः।

मोक्ष धातु से निष्पन्न होने से केवल दुःख निवृत्ति ही मोक्ष है, परमानन्द प्राप्ति तो उसका फल है। जैसे कि लोक में बन्धन से मुक्त होने का नाम स्वातन्त्र्य है, सुख साधनों की प्राप्ति नहीं। मोक्ष शब्द से यहां मोक्ष साधन अभीष्ट हैं।

महाराज, मोक्ष से भिन्न परमानन्द की, अप्रसिद्धि कहना, उस स्थल को सूक्ष्मता से न समझने के कारण है, नहीं तो "ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा संसार से जीव के मोक्ष प्राप्त कर लेने पर परमानन्द का आस्वादन होता है" यहाँ पर मोक्ष को ज्ञानाऽभिन्न मानकर मोक्षाऽभिन्न परमानन्द को मानने पर करण-अधिकरण और कर्त्तृत्व की संगति नहीं बैठ सकती। अतः उस स्थल में प्रयुक्त शब्द का आशय वहाँ देखना चाहिये।

दूसरे विकल्प में जो आपने कहा कि ज्ञान परमानन्द से अभिन्न भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वयं उस ज्ञान का अपने में करणत्व का अभाव है" सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार मानने से शास्त्रवचनों में संगति नहीं बैठेगी।

यदप्युक्तं "वेदाश्च न ज्ञानरूपाः अपि तु नियतानुपूर्वीविशिष्टा अपौरुषेयशब्दराशिरूपा एव" इति। अत्रायं प्रश्नः, किम् अपौरुषेय-शब्दराशिः ज्ञानेन-विरहितः? उत ज्ञान-रूपः? ज्ञान-विरहितत्वे तु शब्दराशेः अपौरुषेयता न सम्भवति, अनर्थकत्वात्। अपि च नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्धस्तु ज्ञान-युक्तत्वे एव सम्भवति। नैवं चेत, ज्ञानार्थक-विद्धातोः निष्पादिता वेद-शब्दनिरुक्तिः न संगच्छेत। अतः वेदाः ज्ञान-स्वरूपाः एवेति सिद्धोऽर्थः। वेदाश्च परावाणी-रूपाः ज्ञानस्य वाण्याश्चाभिन्नत्वं सर्व-विदितमेव।

यदप्युक्तं "यत् पूर्वमीमांसक-मतेन वेदानां स्वरूपनित्यता, उत्तरमीमांसक-मतेन च प्रवाह-नित्यता" तदत्र कतरा नित्यता भवदभीष्टा? यदि भवन्मते द्वयोः शास्त्रकारयोः मते भिन्नता-प्रदर्शनमभीष्टम्, न तद्युक्तम्। तत्त्वदर्शिनाम् आप्त-पदवीनामृषीणां वचनेषु विरोधा-सम्भवात्।

तत्त्वतोऽत्र वेदानां नित्यत्वे द्वयोरपि तात्पर्यमेकमेव। "ईश्वरस्य

वास्तव में यहाँ साधन अर्थ में मोक्ष शब्द का प्रयोग है अन्यत्र साध्य अर्थ में अपने से अभिन्नता ही है जैसे मोक्ष नाम परब्रह्म प्राप्ति लक्षण-वाला सर्वानन्दमय ब्रह्म है। यहां मोक्ष और आनन्दस्वरूप ब्रह्म की अभिन्नत्ता से आशय है।

यह जो कहा है कि 'वेद ज्ञान रूप नहीं हैं अपितु नियत आनुपूर्वी (अनुक्रम) से युक्त, अपौरुषेय शब्द-राशि ही वेद हैं।' सो यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अपौरुषेय-शब्दराशि ज्ञान रहित है या ज्ञान सहित? यदि वह शब्दराशि ज्ञान रहित है तो अपौरुषेय नहीं हो सकती अनर्थक (ज्ञान हीन) होने से। इसके अतिरिक्त शब्द और अर्थ का जो नित्य सम्बन्ध कहा गया है वह शब्द के ज्ञान युक्त होने पर ही संभव है। यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानार्थक विद् धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द का निर्वचन संगत नहीं बैठ सकता। अतः 'वेद ज्ञान रूप ही है न कि अर्थहीन शब्दरूप' यह बात सिद्ध हुई। वेद परा-वाणी रूप हैं ज्ञान और परावाणी का अभिन्नत्व सर्व-विदित है। •

आपने जो यह कहा कि—'पूर्वमीमांसा के मत से वेदों की स्वरूप-नित्यता

सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतोनित्यत्वं सिध्यति, ईश्वर-सामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ।" परमात्म-ज्ञानस्थः शब्दार्थ-सम्बन्धः नित्य एव भवति । अनादित्वमनन्तत्वञ्चापि वेदानामनेनैव सिध्यति ।

इह वेद-शब्दस्य ज्ञानार्थे प्रयोगाद् भावव्युत्पन्नोऽपि वेद शब्द इति व्यञ्जितं भवति । अपि च 'इष्ट-प्राप्त्यनिष्ट-परिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः इति निर्ब्रुवन् सायणाचार्यः कर्त्त-व्युत्पन्नोऽपि वेदशब्दः इति प्रत्यपादयत् ।

ग्रन्थ-विशेषस्यापि मूल-कारणं ज्ञानमेव, ज्ञानस्य चायं स्वभावो यत् यावदिदं स्वमूलाश्रये तिष्ठति न तावदस्य शब्दविशेष-सम्बन्धो ज्ञायते । आश्रयान्तरे तु शब्द-विशेषेण सम्बन्धो भवति, तदभावे तु आश्रयान्तरानापत्तिः । अयं शब्दविशेष एव आनुपूर्वी-विशिष्टः शब्द-

---

और उत्तर-मीमांसा के मत से प्रवाह-नित्यता है" । सो आप यह बताइये कि आपको कौनसी नित्यता अभीष्ट है ? यदि दो शास्त्रकारों के मत में विरोध दिखाना अभीष्ट हो तो वह ठीक नहीं, क्योंकि तत्त्वदर्शी आप्त ऋषि-महर्षियों के वचनों में विरोध नहीं, पाठक के समझने की कमी होती है ।

वास्तव में यहाँ दोनों के मत में वेदों का नित्यत्व दिखाने में ही तात्पर्य है । ईश्वर से वेदों की उत्पत्ति होने पर उनका नित्यत्व ईश्वर की सामर्थ्य के नित्य होने से स्वतः सिद्ध है । परमात्मा के ज्ञान में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य ही होता है । इसी से वेदों का अनादित्व और अनन्तत्व भी सिद्ध होता है ।

यहाँ वेद शब्द का ज्ञान अर्थ में प्रयोग करने से, यह 'वेदनं ज्ञानं वेदः' इस प्रकार भाव,व्युत्पन्न है, व्यञ्जित होता है तथा च 'इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के उपाय को जो ग्रन्थ बतलाता है वह ग्रन्थ वेद है' इस प्रकार निर्वचन करके सायणाचार्य ने वेद को कर्त्तृ-व्युत्पन्न भी माना है ।

ग्रन्थ-विशेष का भी मूल कारण ज्ञान ही है, और ज्ञान का यह स्वभाव है कि यह जब तक अपने मूल के आश्रय में ठहरता है तब तक इसका शब्द विशेष से सम्बन्ध अभिव्यक्त नहीं होता । अन्य-आश्रय तक पहुंचने में (बाह्य रूप से भी) विशेष-शब्द से सम्बन्ध जुड़ जाता है । उसके अभाव में आश्रयान्तर नहीं हो पाता । यह शब्द विशेष ही आनुपूर्वी विशिष्ट शब्दराशि ही वेद हैं ; इसलिये ज्ञान को छोड़कर उस ज्ञान का साधन ग्रन्थ-विशेष, वेद का मुख्यार्थ

राशिः वेदः, अत एव ज्ञानं परित्यज्य तत्साधन-ग्रन्थ-विशेषो न मुख्यतया वेद-शब्दस्यार्थ इत्यस्मद्गुरवः । यौगिक-वृत्त्या शब्देन वाच्योऽर्थो ज्येष्ठः, योगरूढवृत्त्या मध्यमः, रूढ्या च जघन्योऽर्थः कथ्यते । ज्ञानस्यैव च वेद-शब्दार्थस्य ज्येष्ठत्वात् शब्दराशि-रूपस्य वेदस्य कृते विद्या-शब्द-प्रयोगः सूपपन्नः ।

अपि च वेदरूपा वाक् "सा हि श्रीरमृता सताम् (तै० १।२।१) सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता, ऋचो यजूंषि सामानि (शत. १०।५।१।२) इति नानाशास्त्रप्रमाणैः प्रतिपादिताऽस्ति । भवताऽपि वे. पा- ६०९ तमे पृष्ठे 'धात्वर्थानुरोधेन तु ज्ञानमेव वेद-शब्दार्थः इति लिखित्वा महर्षिदयानन्द-मतस्यैवानुमोदनं कृतम् । यच्च भवत्स्वभाव-विरुद्धमस्ति ।

वे. पा. ४९६ तमे पृष्ठे अस्मिन् प्रकरणे भवता शतपथ-ब्राह्मणस्य छान्दोग्यस्य चोपनिषदः उद्धरणमुपन्यस्तम् । वे. पा. ४९९ तमे पृष्ठे २ ये अनुच्छेदे च यदुक्तं "नहि अग्नि-वायु-सूर्याः मनुष्य-रूपा एव भूरादिलोकत्रयस्य सारः सम्भवन्ति । न वा मनुष्याणां सारभूताः ऋगादयो वेदाः सम्भवन्ति । तद्-भूरादिलोकानामधिष्ठातृ-देवाः

नहीं है ऐसा हमारे गुरुजी का मत है । यौगिकवृत्ति से शब्दवाच्य अर्थ श्रेष्ठ होता है योगरूढ़वृत्ति से मध्यम, रूढ़वृत्ति से जघन्य अर्थ कहा जाता है । वेद शब्द का, ज्ञान अर्थ ही श्रेष्ठ है और शब्दराशि रूप वेद को विद्या शब्द से भी कहना समुपयुक्त है । वेद रूप वाक् 'सा हि श्रीरमृता सताम् (तै. १।२।१) सा वा एषा वाक्·················· ऋचो यजूंषि सामानि । (शत. १०।५।१।२) इत्यादि नाना शास्त्र प्रमाणों से प्रतिपादित है । आपने भी वेदार्थ पारिजात के पृ. ६९९ पर— 'धात्वर्थ के अनुरोध से ज्ञान ही वेद शब्द का अर्थ है' ऐसा लिखकर महर्षि दयानन्द की बात का अनुमोदन किया है जो आपके स्वभाव के विरुद्ध है ।

वे. पा. के ४९६ पृष्ठ पर इस प्रकरण में आपने शतपथ ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद् के उद्धरण दिये हैं और वे. पा. के पृ. ४९९ पर २ य अनुच्छेद में यह कहा है कि "अग्नि वायु और सूर्य मनुष्य रूप नहीं वरन् भू आदि लोकों के सार हैं परन्तु मनुष्यों के सारभूत ऋग्वेदादि तो हो नहीं सकते, भू आदि लोकों के अधिष्ठातृ-देव अग्नि आदि है उनको परमेश्वर के

एवाग्न्यादयः । तांश्च परमेश्वरानुग्रहाद् ऐश्वर्यवशाच्च प्रलये प्रलीना एव नित्यसिद्धा वेदाः प्रतिभान्ति'' इति ।

भगवन् ! अनेन संदर्भेण कोऽभिप्रायो भवतः ? किमिमे देवाः मनुष्य-रूपाः शरीरधारिणः नैव आसन् ? तदा किंरूपा आसन्, मन्ये, भवदभिप्राये तु जडरूपाः एव आसन् इति पर्यवसीयते ; अतएव प्रत्यक्ष-समालोचनावसरे भवता स एव मार्मिकोंऽशः प्रश्नोत्तररूपो 'भूमिकायाः' नोट्टङ्कितः ।

दृश्यतां, स चास्ति यथा 'ते तु ज्ञान-रहिता जडा सन्ति ? मैवं वाच्यं, सृष्ट्यादौ मनुष्य-देह-धारिणः ते ह्यासन् । कुतः ? जडे ज्ञान-कार्याऽसम्भवात् । यत्र मुख्यार्थस्यासम्भवोऽस्ति तत्र लक्षणा भवति । तद्यथा—मञ्चाः क्रोशन्ति मञ्चस्थाः मनुष्याः क्रोशन्ति इत्यर्थः लक्ष्यते । तथैव अत्रापि विज्ञायताम् । विद्या-प्रकाश-सम्भवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति'' ।

महर्षि-भूमिकायाः एतमेवाभिप्रायं सायणाचार्योऽपि पुष्णाति तथा हिः— जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैः वेदानामुत्पादितत्वाद्' इति ।

अनुग्रह से तथा ऐश्वर्य के कारण, प्रलय में प्रलीन नित्य सिद्ध वेद प्रकट हो गये ।''

महाराज ! इस संदर्भ से आपका क्या अभिप्राय है ? क्या ये देवता मनुष्य रूप शरीरधारी नहीं थे ? तो किस रूप के थे ? हम मान गये, आपके आशय में तो जड़ रूप ही थे ? यही निष्कर्ष निकलता है । इसीलिए प्रत्यक्ष समालोचना के अवसर पर आपने 'भाष्य भूमिका' का वह अंश जो प्रश्नोत्तर रूप है और बड़ा ही मार्मिक है—उद्धृत नहीं किया ।

देखिये, वह इस प्रकार है "वे तो ज्ञान-रहित जड़ हैं ? ऐसा न कहो, सृष्टि के आदि में मनुष्यदेहधारी थे, क्योंकि जड़ में ज्ञान कार्य कभी सम्भव नहीं । जहां मुख्य अर्थ की बाधा होती है वहीं लक्षणा होती है जैसे :—मचान बोलते हैं यहां मञ्चस्थ मनुष्य बोलते हैं वह अर्थ होता है इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिए । मनुष्यों में ही विद्या का प्रकाश सम्भव है ।''

महर्षि दयानन्द की भाष्य भूमिका के इस अभिप्राय को सायणाचार्य भी पुष्ट करते हैं जैसे कि—"अग्नि वायु आदित्य (जीव विशेष) के द्वारा वेदों के उत्पन्न होने से'' यह वचन उन्होंने कहा है ।

अपि च भगवन्, भगवता सायणाचार्येण नेह प्रोक्तं यदयं प्रजापतिः वेदान् अग्न्यादिभ्यः अपठदिति । अतः यदि चान्यत्र कुत्रापि प्रजापतेरुल्लेखोऽस्ति तर्हि तत्रानेन शब्देन अन्यजीवस्यैव ग्रहणं भविष्यति' इति बोध्यम् ।

भवता 'अग्निवायुरविभ्यस्तु' इत्यादि-मनूक्त-श्लोकस्य कुल्लूक-भट्टीय-टीका प्रस्तुतीकृता । परं तया न कापि नूतना दिशा दर्शिता । अनेन प्रमाणेन तु एष एव निष्कर्षो यत् 'ब्रह्मा अग्न्यादिभ्यः ऋगादीन् जगृहे, अग्न्यादीनां तत्र जडदेवताभिप्रायेऽपि भवतां पक्षे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशाद्युत्पत्तौ पौराणिक-कमलादुद्भव-ब्रह्मणः पूर्वं जलोत्पादनस्य संभवतया जडेषु पदार्थेषु वेदाधिष्ठानत्वाऽसम्भवे अग्नि वाय्वादित्याङ्गिरोभ्यः ऋषिभ्यो जीव-विशेषेभ्य एव वेद-ज्ञानं दत्त मित्येव सङ्गतम् ।

किञ्चाऽस्मिन् स्थले विरोधोक्ती एव स्तः भवतः यथाहिः— "वेदानां बाहुल्येन यज्ञ एव मुख्यार्थः' इति प्रथमोक्त्या भवान् यज्ञपरक वेदभाष्यकृतः सायणादीन् पुष्णाति । "पारम्पर्येण सर्वोऽपि

आचार्य सायण ने यहां यह नहीं कहा कि प्रजापति ने अग्नि आदि ऋषियों से वेदों को पढ़ा । यदि कहीं अन्यत्र प्रजापति का उल्लेख है तो वहाँ इस शब्द से जीव विशेष का ही ग्रहण होगा ।

आपने 'अग्नि वायु रविभ्यस्तु' इत्यादि मनु के श्लोक की कुल्लूकभट्ट की टीका प्रस्तुत की है उससे कोई नयी दिशा प्रस्तुत नहीं हुई । इस प्रसङ्ग में इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मा ने अग्नि आदि ऋषियों से वेदों को ग्रहण किया । यहां अग्नि आदि को जड़ देवता बताने में आपके पक्ष में 'उस आत्मा से आकाश आदि की उत्पत्ति होने पर, पौराणिक कमलोद्भव ब्रह्मा से पूर्व जलोत्पादन की सम्भावना से, जड़ पदार्थों में वेद का अधिष्ठानत्व असम्भव होने पर अग्नि वायु आदित्य आदि जीव विशेष ऋषियोंके लिए ही प्रभु ने वेदों का ज्ञान प्रदान किया, यही बात संगत है ।

इसके अतिरिक्त इस स्थल पर आपकी विरोधी उक्तियां हैं जैसे कि:—

'वेदों का बाहुल्य से यज्ञ अर्थ ही मुख्य है' यह तथा 'परम्परा से सभी वेद ब्रह्मपरक ही हैं' यह विरोधी उक्तियां हैं । पहली उक्ति से केवल यज्ञ-परक वेद-भाष्य करने वाले सायण, महीधर आदि की आप पुष्टि कर रहे

वेदो ब्रह्मपर एवेति" द्वितीयोक्त्या महर्षिदयानन्द-सम्मतानां भूगोल-विज्ञान-गणिताद्यखिल-ज्ञान-विज्ञानाधिष्ठानानां वेदानां सर्व-विद्या-प्रतिपादकत्वे प्रहार-चेष्टामेव ईहते कर्त्तुम्। वे. पा. ५०१ पृष्ठे च-यदपि-'येषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद् द्वारा प्रकाशिताः' इति 'भूमिका' वचनं भवताऽसंगतं प्रोक्तं, तत्समाधानं तु पूर्वमेवोपन्यस्तम्।

वे. पा. ४६७ तमे पृष्ठे १२ तमायां पङ्क्तौ 'तथैव त्रिष्वपि वेदेषु सारभूतास्त्रयो व्याहृतयो भवन्ति' इति वाक्ये त्रय इति पदं पुंसि व्याकरण-दोष-दुष्टम्, व्याहृति-शब्दस्य नित्य-स्त्री-लिङ्गत्वात् तद्विशेषणस्य त्रिशब्दस्यापि स्त्रीलिङ्गे एव प्रयोगावश्यकत्वात्, तदेवं अहो नु खलु ये साधारण-शब्दानामपि लिङ्गज्ञानं न दधति तेऽपि वेद-भाष्य-कारस्य महर्षि-दयानन्दस्य वैदुष्यं दूषयितु प्रवृत्ता इति महदाश्चर्यम्!

वे. पा. ५०१ तमे पृष्ठे २ ये अनुच्छेदे यच्चोक्तम्:—"परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं, पुनस्तेनैव प्रणीताः वेदाः' इति तदपि मन्दं, ज्ञानस्य गवादिवत् मूर्त्तत्वाऽभावेन, स्वस्वत्वनिवृत्ति-पूर्वकपर-स्वत्वोपपादन-

---

और दूसरी उक्ति से ऋषि-दयानन्द सम्मत भूगोल और गणित आदि निखिल-ज्ञान, विज्ञान के अधिष्ठान वेदों की सर्व-विद्यावत्त्व...प्रतिपादकता पर प्रहार करने की कुचेष्टा कर रहे हैं। वे० पा० पृष्ठ ५०१ पर "और जो कि" जिनके ज्ञान के मध्य में प्रेरणा करके उनके द्वारा वेद प्रकाशित किये (भूमिका)। यह कथन भी असङ्गत है।" महोदय, इसका समाधान पूर्व ही किया जा चुका है।

वे० पा० के ४६७ पृष्ठ की १२ वीं पंक्ति में 'तथैव त्रिष्वपि वेदेषु सारभूतास्त्रयो व्याहृतयो भवन्ति' इस वाक्य में त्रयः यह पद पुंलिंग में व्याकरण-दोष से दूषित है, क्योंकि व्याहृति शब्द नित्य स्त्रीलिंग है उसके विशेषण त्रिशब्द का भी प्रयोग स्त्रीलिंग में ही होना चाहिये, पुंलिंग में नहीं।

यह बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि जो लोग साधारण शब्दों का भी लिङ्ग ज्ञान नहीं रखते वे वेद-भाष्यकार महर्षि दयानन्द के वैदुष्य को दूषित करने चले हैं!

वे० पा० ५०१ अनु० २, आक्षेप—"परमेश्वर ने उन्हें ज्ञान दिया, अतः उसी ने वेद बनाये" कथन भी मन्द है, क्योंकि ज्ञान में गौ आदि के समान मूर्तिमत्ता का अभाव होने से अपने स्वत्व की निवृति-पूर्वक दूसरे के स्वत्व का

रूप-दानाऽसम्भवात्,। तज्ज्ञानं नेश्वरस्य, दत्ता गौर्न दातुर्भवति" इति यत्प्रोक्तं तत्समाधानम्।

अत्र मन्दमिति वचनं मन्ददृश एव सम्भवति। 'गवादिवत् मूर्त्तत्वाऽभावे ज्ञानस्य दानाऽसम्भवात्' इत्याक्षेपस्तु व्याकरणरहस्यानभिज्ञत्व-द्योतकः, यतोहि 'महाभाष्यकारमते नान्वर्थतायामाग्रहः, यथाः—'खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटिकां ददाति' इति प्रयोग-दर्शनात्,इहापि या चपेटा सा मूर्तिमती, साऽपि शिष्याय स्वस्वत्व-निवृत्ति-पूर्वकं दातुं न शक्यते।

वस्ततस्तु चपेटा-प्रहारे यत्पीडनममूर्तिमद् वर्त्तते तत्रैव वाक्यस्याभिप्रयणम्। लोकेऽपि 'पिता पठन-शीलाय पुत्राय पुस्तकं ददाति' इत्यत्र भवन्मते किमेषोऽभिप्रायो यत् पितुः प्रदत्त-पुस्तकस्योपरि स्वत्वं नावशिष्टम्? कदापि नैव, इह तु व्यवहारासङ्गतत्वमेव कथयितुमुचितम्।

अपि च 'मित्रं कस्मैचिन्मित्राय—'आनन्दं ददाति' इति वाक्ये नैष भावो यत् स्वानन्दस्य निवृत्ति-पूर्वकं दानं तेन क्रियते इति। नापि

उपपादन रूप दान यहाँ असम्भव है, अतः वह ज्ञान ईश्वर का नहीं, जैसे दी हुई गाय देने वाले की नहीं होती।"

इसका समाधान यह है कि गौ आदि की तरह मूर्त्तत्व के अभाव में ज्ञान का दान असम्भव है' यह आक्षेप व्याकरण के रहस्य की अनभिज्ञता का सूचक है, क्योंकि महाभाष्यकार के मत में दान की अन्वर्थता में आग्रह नहीं है जैसेः—'खण्डिकोपाध्याय शिष्य के लिए चपेटिका (थप्पड़) देता है' यह प्रयोग देखा गया है; यहाँ पर भी जो चपेटा है वह मूर्तिमान् है वह भी शिष्य के लिए स्व-स्वत्व-निवृति पूर्वक नहीं दिया जा सकता।

वस्तुतः चपेटिका-प्रहार में जो पीड़न है अमूर्तिमत् है उस वाक्य का उसी से तात्पर्य है। लोक में जब पिता पठन-शील पुत्र के लिए पुस्तक देता है तब क्या आपके मत में अर्थ होगा कि पिता का उस पुस्तक के ऊपर स्वत्व शेष नहीं रहा? परन्तु यह व्यवहार सङ्गत नहीं, क्योंकि जब एक मित्र दूसरे मित्र के लिए आनन्द देता है, तब इसका यह भाव नहीं होता है कि वह अपने आनन्द का स्वत्व-निवृत्तिपूर्वक दान कर रहा है। कुतर्क के द्वारा यह तत्व समझा नहीं

कुतर्केणेदं तत्त्वमवबोद्धुं शक्यते। स्वत्वस्य निवृत्तिस्तु द्रव्य-त्यागे एव सम्भवति तथा चोक्तं 'सम्प्रदानं स्वत्वापादक-द्रव्य-त्यागो दानमिति न च ज्ञानं द्रव्यं, तस्येश्वरगुणत्वात्।

अथवा नित्यं नैमित्तिकं काम्यं चेति त्रिविधं दानमुच्यते, तत्र त्रिविधेषु दानेषु वेद-ज्ञानं तु नित्यकोटिकमेव दानमिति बोध्यम्।

भगवता भाष्यकारेण पतञ्जलिनाऽपि न काचित् मूर्त्तामूर्त्त-कल्पना समादृता दाने। येन ज्ञानस्यामूर्त्तत्वेन दानेऽपि न सम्भवापत्तिः कल्प्येत। अपि च भवद्-गालिदानेऽपि-अन्येन तद्ग्रहणे कथं नाम स्वस्वत्व-निवृत्ति-पूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं कर्त्तुं शक्यम्?

यदप्युक्तं महर्षिणा 'वेदाः ईश्वरस्यैवेति' तत्राऽयमभिप्रायः यन्मूल-ज्ञानं परमात्मन एव, न तत्र अग्न्यादिभिः ऋषिभिः स्वसंस्कार-जनितं किमप्यन्यत् ज्ञानं मेलितमिति। सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य ज्ञानं तु सर्वदा सर्वथा परिपूर्णमेव भवति।

तत्त्वतस्तु अमूर्तस्य वेदरूप-ज्ञानस्य दाता परमात्माऽपि अमूर्त

जा सकता है। अपने स्वत्व की निवृत्ति तो द्रव्य के त्याग में ही संभव है। जैसा कि कहा भी है :—सम्प्रदान स्वत्वापदक द्रव्य का दान ही है, परन्तु ज्ञान द्रव्य नहीं, क्योंकि वह ईश्वर का गुण है। अथवा दान, नित्य-नैमित्तिक, तथा काम्य तीन प्रकार का कहा जाता है। इसके अनुसार वेद ज्ञान नित्य प्रकारक है।

महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने भी दान के विषय में कोई मूर्त या अमूर्त की कल्पना नहीं मानी है। जिससे कि ज्ञान की अमूर्तता की स्थिति में दान की असम्भवता मानी जावे। आपके द्वारा ऋषि के लिए धृष्ट आदि गाली देने पर और अन्य से उसके ग्रहण न करने पर स्व स्वत्व निवृत्ति-पूर्वक पर स्व-त्वोत्पादन कैसे सम्भव हो सकता है? केवल तदर्थ चेष्टा-मात्र तो कही जा सकती है।

ऋषि ने कहा है कि "वेद ईश्वर के ही हैं" इसका अभिप्राय यह है कि मूल ज्ञान परमात्मा का ही है, उसमें ऋषियों की स्वसंस्कार-जनित मिलावट नहीं है। सर्वज्ञ का ज्ञान तो सर्वथा परिपूर्ण होता है।

तत्त्वतः वेद-रूप अमूर्त ज्ञान का दाता परमात्मा भी अमूर्त ही है, प्रति-

एव। अपि च वाह्येन्द्रियसाधनत्वाऽनुपयोगे ज्ञानस्य प्रतिग्रहीता निर्मलात्मा जीवोऽपि अमूर्त एव। अतोऽत्र शङ्काक्लेशलेशोऽपि नोपपद्यते।

एकस्य जीवस्य ज्ञानमपरस्मिन् सङ्क्राम्यतीति वैज्ञानिक-प्रयोग-परिणाम-जन्यं प्रत्यक्षं प्रात्यहिकमेव। बुद्ध्या नैमित्तिक-ज्ञान-ग्रहणस्य स्वाभाविक-धर्मत्वात्।

वे. पा. ५०१ तमे पृष्ठे ३ ये अनुच्छेदे यदप्युक्तं "यदि वेदा ज्ञानरूपा एव तर्हि ज्ञान-विषयकं ज्ञानमनुव्यवसायात्मकमन्यद्वा? नान्यद्, अप्रसिद्धेः, न पूर्वम्, अनुव्यवसायस्य व्यवसायाधिकरणत्व नियमात्" इति, तदपि तर्क-शास्त्र-संगत-प्रत्यक्ष-लक्षण-सूक्ष्मत्वाऽनभि-ज्ञत्व-सूचकमेव, तथा हि:—

अत्र यस्य ज्ञानस्य चर्चा प्रचर्च्यते, तज्ज्ञानम् ईश्वरस्य, ऋषीणां शुद्धान्तःकरणैः प्रत्यक्षीकृतम्। वाह्येन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-ज्ञाने एव मनसा अनुव्यवसायस्य आवश्यकत्वं, न तु जीवात्मस्थपरमात्म-ज्ञानोपलम्भे अनुव्यवसायात्मकता अपेक्ष्यते। इन्द्रिय-व्यवसित-ज्ञानस्यैव मन-साऽनुव्यवसीयमानत्वात्, तथा च न्यायशास्त्रे (१।१।४) सूत्रे वात्स्यायने-नोक्तं, 'अनिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजं हि तत्' इति इन्द्रियस्य वै सतः मनसः

ग्रहीता जीव भी अमूर्त ही है इस प्रकार यहाँ शङ्का का लेश भी नहीं रह जाता। एक जीव का ज्ञान दूसरे को प्राप्त होता है यह वैज्ञानिक प्रयोग का परिणाम-जन्य प्रत्यक्ष है, जिसको हम नित्यप्रति देखते हैं। बुद्धि द्वारा नैमित्तिक-ज्ञान का ग्रहण करना स्वाभाविक-धर्म है।

वे० पा० के ५०१ पृष्ठ पर ३ य अनुच्छेद में आपने यह जो कहा कि—"यदि वेद ज्ञान रूप ही हैं, तो ज्ञान विषयक ज्ञान अनुव्यवसायात्मक है या अन्य? अन्य तो है नहीं, क्योंकि अन्य की अप्रसिद्धि है। और पहला, अनुव्य-वसायात्मक भी नहीं, क्योंकि अनुव्यवसाय भी व्यवसाय के बिना नहीं बनेगा?" सो यह तर्क-शास्त्र संगत प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण की सूक्ष्मता के न जानने का सूचक है क्योंकि:—

यहाँ पर जिस ज्ञान की चर्चा है, वह ईश्वरीय-ज्ञान ऋषियों के निर्मल अन्तःकरणों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत है। बाह्य इन्द्रिय विषयक सन्निकर्ष-ज्ञान में

इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात्, भौतिकानीन्द्रियाणि नियत-विषयाणि, मनस्त्वभौतिकं सर्व-विषयं च, नास्य सगुणस्येन्द्रियभावः" इति ।

अतएव आत्मादिषु सुखादिषु च एतदेव प्रत्यक्षलक्षणं सङ्घटते । ईश्वर-ज्ञान-प्रत्यक्षे तु ज्ञानकरणकत्वाऽव्यभिचारि-जाति-शून्य-ज्ञानस्यैव लक्षणस्य अङ्गीकृतौ न कश्चिद्दोषः ।

भगवन्, यदि भवन्मते आनुपूर्वी-विशिष्टा शब्दराशिरूपा विद्यैव वेदाः, तदापि भवदुद्भाविता आरोपा असमाहिता एव स्थास्यन्ति, एवं स्थितौ भवत्पक्षे कि समाधानं भविष्यति ? दायित्वं तु सममेव आवयोः, सर्गादौ वेदज्ञानस्य प्राप्ति प्रक्रियायाः आभ्यां समान-रूपेण स्वीकारात् । अतो न ततो भवत्पलायनं युक्तम् ।

मन के द्वारा अनुव्यवसाय की आवश्यकता होती है, परन्तु जीवात्मस्थ परमात्म-ज्ञान की प्राप्ति में अनुव्यवसायात्मक ज्ञान की आवश्यकता नहीं ।

इन्द्रिय-व्यवसित-ज्ञान की ही मन के द्वारा अनुव्यवसीयमानता होती है जैसा कि न्यायदर्शन के १।१।४ सूत्र के वात्सायन-भाष्य में लिखा है:—वह ज्ञान तो अनिन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न है' मन इन्द्रिय होते हुए भी, धर्मभेद से, इस मन का इन्द्रियों से पृथक् उपदेश किया गया है । इन्द्रियां भौतिक और नियत विषय वाली हैं, मन तो अभौतिक और सर्वविषयक है । इस सगुण मन का इन्द्रियभाव नहीं माना गया" इसीलिये आत्मादि और सुखादिकों में यह प्रत्यक्ष लक्षण घटित होता है ईश्वरीय-ज्ञान के प्रत्यक्ष में ज्ञानकरणकत्व अव्यभिचारी जाति शून्य ज्ञान वाले लक्षण के स्वीकार करने में कोई दोष नहीं आता ।

महाराज, यदि आपके मत में वर्णों के अनुक्रम से युक्त शब्द समूह रूप ज्ञान ही वेद है, तब भी आपके द्वारा उद्भावित दोषों का कुछ समाधान नहीं । ऐसी स्थिति में आपके पक्ष में क्या समाधान होगा यह तो आप ही जानें, परन्तु जब सृष्टि के आदि में वेदज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया हम दोनों ने समानरूप से एक सी स्वीकार की है दोनों का दायित्व समान है फिर, आपका पलायन ठीक नहीं ?

अपि च अनेकेषु स्थलेषु वेदवाचीविद्याशब्दोऽपि ज्ञानपर्याय एव तथा हि :—अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्' (ऐत. २५।९) इति । किं च 'त्रयी विद्या' (शत. ४।६।७।१) । अथ च स तां त्रयीं विद्यामध्यतपत् (छान्दो. ४।१६।३) । अथापि विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम (निरु. २।१) इत्यादिषु बहुषु स्थलेषु विद्या शब्द-प्रयोगः वेदज्ञान-पर्यायत्वे एव दृश्यते । अतो महर्षिदर्शितदिशा सर्व-समाधान-संभवः ।

यच्चोक्तं भवता यद् अनुव्यवसायात्मक-ज्ञानाद् भिन्न-ज्ञानस्य अप्रसिद्धिरिति, तदपि न्याय-शास्त्राऽनभिज्ञानमेव भवतः, यतो हि न्याय-शास्त्रानुसारं प्रत्यक्षे प्रथमतो घटादौ घटत्वादि-वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं जायते, तच्च निर्विकल्पकं ज्ञानमुच्यते । भगवन्, तदेवं न केवलं भारतीय-दर्शने अपितु पाश्चात्यदर्शनेऽपि उद्देश्य-विधेयात्मकं वाक्यमेव ज्ञानं मन्यते । फलतः प्रत्यक्षात्पूर्वं विशेषण- विशेष्य-पूर्वकं ज्ञानमेव प्रत्यक्ष-ज्ञाने कारणं, तच्च प्रसिद्धमेव ।

इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर जहां विद्या शब्द वेद वाची है वहाँ वह ज्ञान का ही पर्याय है जैसे कि:—'अथ केन' ··अर्थात् ब्रह्मत्व किससे किया जाता है? इसका उत्तर त्रयीविद्या से (ऐत. २५।१९) ऐसा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है और 'त्रयीविद्या' तीन विद्यायें (तीन वेद) यह शतपथ ब्राह्मण में कहा है तथा अथ च स तां' अर्थात् उसने त्रयीविद्या (तीन वेदों) के लिए तप किया, यह छान्दोग्य में कहा है, तथा विद्या ह वै 'विद्या (वेद-विद्या) ब्राह्मण के समीप गई' यह निरुक्त में कहा गया है इस प्रकार इन सब स्थलों में विद्या शब्द वेद-ज्ञानवाची ही है । अतः हमारा पक्ष निर्दोष है ।

और आपने यह जो कहा कि—अनु-व्यवसायात्मक ज्ञान से भिन्न ज्ञान की अप्रसिद्धि है, सो यह भी न्यायशास्त्र से अनभिज्ञता ही है क्योंकि न्याय-शास्त्र के अनुसार पहले घटादि में घटत्वादि विशिष्ट का अवगाहन करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है जो निर्विल्पक कहलाता है । महाराज, इस प्रकार न केवल भारतीय दर्शन में अपितु पाश्चात्य-दर्शन में भी उद्देश्य विधेयात्मक वाक्य ही ज्ञान माना जाता है । अतः प्रत्यक्ष से पूर्व विशेषणविशेष्य-पूर्वक ज्ञान ही प्रत्यक्ष-ज्ञान में कारण है और वह प्रसिद्ध है ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।१८) के प्रमाण को प्रस्तुत कर आपने

श्वेताश्वतरोपनिषदः (६।१८) स्थलं प्रस्तुत्य भवता यदुक्तं "साक्षात् परमेश्वरेणैव ब्रह्मणो वेद-प्रेषणस्योक्तत्वात्' यथा हि यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमित्यादि"।

अत्रेयं जायते विचारणा यत् 'कोऽयं ब्रह्मा'? किमयं चतुर्वेदविद् ब्रह्मा? उत कश्चिदन्यः? नाद्यः, वेदज्ञानाऽऽदानात्पूर्वं ब्रह्मेति-नाम्नो ऽसम्भवात्। छान्दोग्योपनिषदनुसारं च ब्रह्मणः उत्पत्तेरनन्तरं वेदज्ञान-दानस्य समुल्लेखात्, कस्यचिदैतिहासिकस्यैवात्र ब्रह्मणः भवदभीष्टत्वात्। अथापि नान्यः, तादृक्प्रमाणाऽनुपस्थानात्।

तदेवं ब्रह्मणः उत्पत्तौ निर्विवादैकसम्मतेरभावात्, सर्वैश्च भाष्यकृद्भिः अग्न्यादिभ्यः पूर्वं तस्योत्पत्तेरव्याख्यातत्वाच्च, श्वेताश्वतरोपनिषदोऽयमभिप्रायः यत् 'स परमात्मा ब्रह्माणं तं विदधाति यस्मै वेदान् प्रहिणोति गमयति इति। अपि चात्र 'पूर्वम्' इति शब्दः सापेक्षः, तदाऽयमाशयः यत् श्वेताश्वतरोपनिषदः रचयितुः पूर्वं कस्यचिद् ब्रह्मण उत्पन्नत्व-संभवः।

कहा—"साक्षात् परमेश्वर ही वेद के उपदेष्टा माने गये हैं, जैसे कि जो पहले ब्रह्मा को बनाता है और उसको वेद का उपदेश करता है इत्यादि"। यहां पर यह बताइये कि यह ब्रह्मा कौन है? क्या यह चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा है या कोई और? प्रथम तो हो नहीं सकता, क्योंकि वेद ज्ञान के प्रदान से पूर्व ब्रह्मा नाम की कोई वस्तु सम्भव नहीं? छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मा की उत्पत्ति के अनन्तर वेद-ज्ञान के दान का समुल्लेख है, आपको तो यहाँ कोई ऐतिहासिक ब्रह्मा ही अभीष्ट है। सो अन्य ब्रह्मा भी नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा प्रमाण आपने कोई उपस्थित नहीं किया। इसलिये ब्रह्मा की उत्पत्ति में निर्विवाद-रूप से एक सम्मति का अभाव और सब भाष्यकारों के द्वारा अग्नि आदि से पूर्व उसकी अनुपपत्ति का कथन किया गया है अतः इस स्थल का यह आशय है कि वह परमात्मा उस ब्रह्मा का निर्माण करता है जिसके लिये वेदों को बनाया।

यहां पर "पूर्व" शब्द सापेक्ष है अर्थात् उपनिषद् के रचयिता की अपेक्षा, ब्रह्मा के पूर्व उत्पन्न होने की सम्भावना है, ऐसा आशय है और गायत्री

किं च गायत्र्युपनिषदि अपि 'वेदाद् ब्रह्मा भवति' इति प्रोक्तम्। ऋग्वेदेऽपि 'ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां (१०।१७।११) इत्यस्य प्रसङ्गे सायणाचार्येणापि स्व-भूमिकायां लिखितं 'ब्रह्मै को जाते-जाते विद्यां वदति, ब्रह्मा सर्वविदिति।

अस्याऽयमभिप्रायः यत् 'ब्रह्मनामा एक ऋत्विक् जाते-जाते तदा-तदा समुत्पन्ने (प्रस्तुते) प्रणयनादिकर्मणि विद्याम् अनुज्ञां वदति। स च ब्रह्मा सर्व-वेदोक्त-कर्माभिज्ञः इति। किञ्च गोपथे।(२।२४) अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम्' इति प्रोक्तम्।

भगवन्, यदि ब्रह्मा पूर्वतोऽस्ति, तदा न वेद-प्रेषणस्यावश्यकता तस्मै। अथ च यस्मै कस्मैचिदेव वेद-ज्ञानं प्रेषितं, तदा सोऽपि ब्रह्मेति पदवी-भाक् स्यात्। वस्तुतस्तु न रूढिगतस्य ऐतिहासिकस्य ब्रह्मणोऽत्र चर्चा। न च माध्यमेन विना प्रेषणं सम्भवति। प्रेषणस्य च पूर्व-चर्चितं सङ्क्रमणमित्येवार्थः।

अपि च निकेतनार्थकात्-आमन्त्रणार्थकाच्च 'पूर्व' धातोरस्य'पूर्व'-शब्दस्य-सिद्धौ पूर्वमृषीणामान्त्रयितारं 'विदधाति' विशेषेण धारयति

उपनिषद् में भी वेदों के कारण ही ब्रह्मा कहलाता है, कहा है। ऋग्वेद में भी 'ब्रह्मात्वो वदति···इस ऋचा के प्रसंग में सायणाचार्य ने लिखा है कि—ब्रह्मा नामक ऋत्विक् जब तब प्रणयन आदि कर्मों में अनुज्ञा करता है। वह ब्रह्मा सब वेदोक्त कर्मों का ज्ञाता होता है।

महाराज, यदि आपके अनुसार ब्रह्मा वेदों के पहले से ही होता है तो उसके लिए वेदों के प्रेषण की कोई आवश्यकता ही नहीं। और यदि जिस किसी के लिए परमात्मा वेद ज्ञान देता है तो उसकी पदवी भी 'ब्रह्मा' ही होती है' ऐसा मानना होगा।

वास्तव में यहां रूढिगत ऐतिहासिक ब्रह्मा की चर्चा नहीं है और न ही बिना माध्यम के वेदों का प्रेषण संभव है। प्रेषण का अर्थ संक्रमण ही है।

इसके अतिरिक्त निकेतन तथा आमन्त्रण अर्थ वाली पूर्व' धातु से 'पूर्व शब्द की सिद्धि करने पर पूर्वम् अर्थात् ऋषियों के आमन्त्रयिता को 'विदधाति' विशेष रूप से धारण करता है अथवा पोषण करता है, यह अर्थ संभव है। और 'प्रहिणोति' क्रिया में प्रेरणार्थक णिजर्थ निहित होने से "प्रेरित करता है" ऐसा अर्थ है।

पोषयतीति वेति अर्थसम्भवः। 'प्रहिणोति' इत्यत्र च अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् प्रेरयतीत्यर्थः।

न चाऽत्र 'अकथितंचेति सूत्रेण 'तस्मै' इत्यत्र कर्मत्व-सम्भवः, भगवतः पतञ्जलेः पूर्वम् एतस्य हि धातोः द्विकर्मकधातुषु पाठाऽभावात्।

अपि च श्वेताश्वतरोपनिषत्कृतः भगवतः पतञ्जलेः पूर्वं समुत्पन्नत्वात्, अग्न्यादीनामृषीणाम् सर्गादौ वेद-ज्ञान-दानाऽनङ्गीकारे च सर्वशास्त्र-विरोधापत्तेः। किञ्च ब्रह्मणा सर्गादौ वेद-प्रकाशनं कृतमितिमत्वा न किमपि वैदिकं प्रमाणं भवता समुपन्यस्तम्। अत्रहि आचार्यशङ्करोऽपि 'ब्रह्म' इत्यस्य 'हिरण्यगर्भ' इत्येवार्थं व्यधत्त, न भवदभिमतं व्यक्ति-विशेष कमपि प्रत्यपादयत्।

भवांस्तु अनिर्णीत-सिद्धान्तः, क्वचिद् वेदानां कर्त्तारमीश्वरं, क्वचित्प्रजापतिं, क्वचित् हिरण्यगर्भं प्रतिपादयन् संशयाटव्यां पर्यटन् वे० प० ४०२ तमे पृष्ठे च अर्धोक्त्या अग्न्यादीनपि स्वीकृतवान्। परं वयं तु सायणोक्तं 'प्रेरकत्वेन ईश्वरोक्तं निर्मातृत्व'मनुमोदामहे।

और यहाँ 'अकथितं च' इस पाणिनीय सूत्र से "तस्मै" पद का कर्मत्व संभव नहीं, क्योंकि पतञ्जलि से पहले इससे सम्बद्ध हि धातु का द्विकर्मक धातुओं में पाठ नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषत्कार श्री पतञ्जलि से पूर्व उत्पन्न हुये थे, दूसरे यह कि अग्नि आदि ऋषियों को वेदज्ञान देना स्वीकार न करने पर सब शास्त्रों का विरोध भी खड़ा हो जाता है, और वैदिक साहित्य में कोई भी ऐसा प्रमाण भी नहीं कि तुम्हारे कथित ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाशन हुआ।

आचार्य शंकर ने उक्त स्थल में ब्रह्म शब्द का अर्थ "हिरण्यगर्भ" किया है आपका अभिमत व्यक्ति विशेष नहीं।

इस प्रकार अनिर्णीत सिद्धान्त वाले आप संशय स्थिति में कभी वेदों का कर्त्ता ईश्वर को, कभी प्रजापति को, कभी हिरण्यगर्भ को बनाते हैं, तो कभी वे० पा० की पृ. ४०२ की अर्धोक्ति से अग्नि आदि को भी स्वीकार कर बैठते हैं

किञ्च 'तामन्वविन्दद् ऋषिषु प्रविष्टाम्' (१०।७१।३) इति ऋक्प्रतिपादित एव, अस्मत्-सिद्ध-राद्धान्तः इति मन्यामहे।

यच्च भवता ऋषिभाष्यभूमिकायाः 'प्रेरयित्वा' इति प्रयोगे यः आक्षेपः कृतस्तदत्र समाधीयते:—महर्षिदयानन्दो न केवलं पाणिनीय-व्याकरणशास्त्रस्य विशेषज्ञ आसीत् अपि तु समस्तोपलब्ध-व्याकरण-ग्रन्थ-निचयानां मर्मज्ञ आसीत्। तस्य पद-प्रयोग शैली रामायण-महाभारत समवृत्तिका आर्षग्रन्थ-प्रयोग-तुल्यतां भजते।

ननु 'प्रेरयित्वा' इत्यत्र प्रपूर्वकाद् ईर्धातोः समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वोल्यप् (७।१।४७) इति सूत्रेण ल्यपि कृते 'प्रेर्य' इत्येव रूपं साधु, न तु 'प्रेरयित्वा' इति चेन्न रामायणमहाभारतादौ अपि उपसर्ग-पूर्वकत्वेऽपि धातोः परे क्त्वि ल्यब्भावो न दृश्यते तथा हि:—
महाभारते—नारायणाद्वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम्।
क्रमं प्रणाय शिक्षां च, प्रणयित्वा च गालवः॥
(शा० मो० पर्व ३४२।१०१।२)

हम तो सायणोक्त इस कथन को, प्रेरक होने के कारण भगवान वेदों का निर्माता है' अनुमोदित करते हैं तथा 'तामन्वविन्दत्'...इत्यादि ऋग्वेदीय प्रमाण से वेदवाणी का ऋषियों में प्रविष्ट होना सिद्ध है, यही सत्य सिद्धान्त मानते हैं।

आपने 'भाष्यभूमिका' के प्रयोग 'प्रेरयित्वा' पर जो आक्षेप किया है उसका यह समाधान है कि महर्षि दयानन्द न केवल पाणिनीय शास्त्र के विशेषज्ञ थे, अपितु समस्त समुपलब्ध व्याकरण-ग्रन्थों के मर्मज्ञ थे उनकी पद प्रयोग शैली रामायण महाभारत के समानवृत्ति वाली है। आर्ष ग्रन्थों के तुल्य है। महर्षि के प्रेरयित्वा प्रयोग के बदले प्र पूर्वक ईर् धातु से बनने से समास होने पर क्त्वा के स्थान में ल्यप् होने पर प्रेर्य ही बनना चाहिए' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि रामायण महाभारत आदि में भी उपसर्ग पूर्वक धातु से परे क्त्वा को ल्यप् भाव नहीं भी दीखता है। जैसे कि—

'नारायणाद् वरं लब्ध्वा'...'प्रणयित्वोवाच गालवः इस स्थल में 'प्रणयित्वा' और रामायण में 'रामो राज्यमुपासित्वा' में 'उपासित्वा' स्थल में इसी प्रकार उत्स्मयित्वा तथा विसर्जयित्वा आदि प्रयोगों में क्त्वा को ल्यप् नहीं किया गया

रामायणे—रामो राज्य**मुपासित्वा** ब्रह्म लोकं प्रयास्यति । (रामा०) एवमुपासित्वा (१।२।१६) 'उत्स्मयित्वा' (रा. १।१ ६२) विसर्जयित्वा (रा. १।८।२२) इति च प्रयोगाः दृश्यन्ते ।

भगवन्, भवत्प्रमाणीभूते भागवतेऽपि तृतीयाध्याये 'एकादशं परिश्रुत्वाऽप्युद्धवो वाक्यमब्रवीत्' इत्यत्र परिश्रुत्वेतिप्रयोगः, अपि च आश्वलायनगृह्यसूत्रे '**प्रत्यसित्वा** प्रायश्चित्तं जुहुवुः' इत्यत्र च प्रत्यसित्वा' इति प्रयोग-दर्शनात् आर्षग्रन्थेषु बहुत्र क्त्वो न ल्यब् दृश्यते । अतः प्रेरयित्वा' इत्यत्रापि न शङ्कास्थानम् ।

अपि च पाणिनीय-धातुपाठे संग्राम युद्धे, निवास आच्छादने इत्यादि समाद्युपसर्ग-युक्त-धातु-प्रयोग-दर्शनात् तद्वत् प्रेर् इत्यपि धातुः सम्भाव्यते । किञ्च यद्येवमपि न स्वीक्रियेत—वैयाकरणैः उपसर्गस्य धातोश्च सम्बन्धे नियमद्वयमाद्रियते :—

१ पूर्वं हि धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन इति प्रथमः ।
२ पूर्वं हि धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण इति द्वितीयः ।।

तत्र प्रेरयित्वा इत्यत्र द्वितीय-नियमेन, पूर्वं धातोः साधनेन योगे ईरयित्वेति जाते पश्चात् "प्र" उपसर्गेण योगे 'प्रेरयित्वा' इति साधु । अतो न शङ्कास्थानमत्र ।

है । इसी प्रकार भागवत पुराण में 'एकादशं परिश्रुत्वा' में परिश्रुत्वा तथा आश्वलायन गृह्य-सूत्र में 'प्रत्यसित्वा प्रयोग मिलने से सिद्ध है कि आर्ष ग्रन्थों में बहुत्र क्त्वा को ल्यप् नहीं भी किया जाता है । अतः तद्वत् यहां भी ऋषि प्रयोग प्रेरयित्वा में भी शंका करना व्यर्थ है ।

अथवा पाणिनीय धातुपाठ में, संग्राम युद्धे, निवास आच्छादने, इत्यादि उपसर्ग युक्त जैसे धातु प्रयोग मिलते हैं इसी प्रकार प्रेर् धातु का प्रयोग संभव है । क्योंकि कुछ धातुयें पणिनीय धातु पाठ से बाहर की भी प्रयुक्त मिलती हैं यदि यह बात भी न मानी जाये तो वैयाकरण जन उपसर्ग और धातु के सम्बन्ध में नियमद्वय का प्रतिपादन करते हैं ।

नं. १ पहले धातु उपसर्ग से मिलती है फिर साधन से ।
नं. २ पहले धातु साधन से मिलती है फिर उपसर्ग से ।

इस प्रकार द्वितीय नियम के अनुसार ईर् और त्वा का योग करने पर

अपि च निभाल्यतां भगवन् पुराणेषु तु न केवलं ल्यप्प्रत्ययव्यत्ययाः अपितु परस्मैपदआत्मनेपदादिप्रयोग-व्यत्ययाः अपि दृश्यन्ते तथाहि :—

क—**पठस्व** स्वमुखेनाऽपि, यदीच्छसि भव-क्षयमिति (प. पु. ।
ख—कलौ त्वमेकैव जगद्धिताय, **भविष्यसे** नारदसंप्रणीता ।
(प. पु.)

इत्यत्र पठस्वेति भविष्यसे इति च पदव्यत्ययः स्पष्टमेव । अपि च श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर सौख्यं लभिष्यसे । इत्यत्र लप्स्यसे इति स्थाने लभिष्यसे इति इड्व्यत्ययः ।

तदेवं पद्मादिपुराणेषु बहुत्र व्यत्यये प्राप्ते किं समाधानं भवत्समीपे ? न किमपि चेदलमाक्षेपेण महर्षिषु ।

भगवन्, महदाश्चर्यं यत् भूमिकागतं सर्वं बुद्धिसङ्गतमपि भ्रान्तशिरस्कं श्रीमन्तम् असम्बद्ध प्रलपितमिव च आभाति । वे. पा. ५०२ तमे पृष्ठे चतुर्मुखेन (ब्रह्मणा) वेदाः निरमायिषत' इति यदुक्तं तन्न साधु । एतस्य वाक्यस्य ऐतिह्यप्रमाणान्तर्गतत्वाऽभावात् । ऐतिह्यं

फिर उपसर्ग का योग करने पर प्रेरयित्वा बन सकता है । अतः यह व्याकरण शंका निर्मूल हो जाती है ।

और महाराज पुराणों में तो ल्यप्प्रत्यय ही क्या परस्मैपद आत्मनेपद आदि के भी व्यत्यय मिलते हैं जैसे कि—पद्म पुराण में 'पठस्व स्वमुखेन' में पठस्व के प्रयोग में और जगत्धिताय भविष्यसे में 'भविष्यसे' प्रयोग में परस्मैपद का व्यत्यय है । इसी प्रकार सौख्यं लभिष्यसे में 'इट्' का नियम-व्यत्यय है । इस प्रकार आपके पास इन सबका क्या समाधान है ? यदि कुछ नहीं तो फिर ऋषि के आर्ष प्रयोग प्रेरयित्वा पर भी शंका करना व्यर्थ है ।

महाराज यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आपको 'भाष्य भूमिका' में सब कुछ असम्बद्ध और प्रलापमात्र दिखाई पड़ता है । आपने वे० पा० के० पृ० ५०२ पर 'चतुर्मुख ब्रह्मा के द्वारा वेद बनाये गये' कहा है । सो ठीक नहीं यह आपका कथित वाक्य ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत न होने से मान्य नहीं । जो ऐतिह्य शब्द प्रमाण के अन्तर्गत हो, वही मान्य होता है । शब्द प्रमाण में आप्तों के उपदेश को ही माना है । अतः यह आपका कथन आप्त-कथन न

तु शब्दप्रमाणान्तर्गतमेव प्रमाणम् (न्या. २।२।२) शब्दप्रमाणं च 'आप्तोपदेशः शब्दः' इति परिभाषितम्। अतोऽत्र भवतः चतुर्मुखेन वेदोत्पत्ति-कथनं न शब्द-प्रमाणार्हम्, ईदृश-कथनस्य आप्तोक्तवाक्य-स्यानन्तर्गतत्वात्।

यच्चाप्युक्तं भवता 'प्रत्यक्षाद्यधिगतं सत्यमपि ऐतिह्यत्वे ग्रहीष्यते' इति तु प्रलापमात्रम्। यतोहि :— यन्नाम प्रत्यक्षादि-प्रमाणेन गृहीतं तस्यापि अनुमानोपमिति-शब्दप्रमाणानयने किमर्था क्लिष्ट-कल्पना ? ऐतिह्यं तु अस्मदाद्यप्रत्यक्षीभूतमेव, ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावे तादृशी एव प्रामाणिकता।

यच्चोक्तं भवता "नानृतस्येत्यपि व्यर्थमेव सत्यस्यैव इत्यवधारणेन गतार्थता" इति। तदिदं बुद्धिविरहितानामिव 'व्यर्थ'-शब्द-समायोजनवचः, यतोहि ऋषयः द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति न्यायेन अल्पधियां बालानां प्रशिक्षणाय विधित्वेन उक्तमपि निषेध-मुखेन विधेलिममेव दृढयन्ति यथा 'सत्यमेव जयते नानृतम्' इति

वे. पा. ५०३ तमे पृष्ठे १ में अनुच्छेदे 'एवमेव……आश्चर्यमेव"

होने से मान्य नहीं। आपने यह जो कहा कि 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों से गृहीत सत्य भी ऐतिह्य प्रमाण से ग्रहण किया जायेगा' सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो प्रत्यक्ष से गृहीत है, उसको अनुमान उपमान और शब्द प्रमाणों में पुनः लाने की क्या आवश्यकता ? ऐतिह्य तो हम लोगों से अप्रत्यक्षीभूत ही है। ऐतिह्य के शब्द प्रमाण के अन्तर्गत होने से उसकी शब्द जैसी ही प्रामाणिकता होती है।

जो आपने यह कहा कि 'भूमिका' में 'सत्यस्यैव' इतना ही कहना ठीक है 'नानृतस्य' इसका कहना व्यर्थ है। सत्यस्यैव इसी से ही सत्य का ग्रहण होगा झूठ का नहीं', यह तो आपकी बात समझ की नहीं, क्योंकि पंडित लोग बालकों को समझाने के लिये विधि (विधान) द्वारा उपदेश करके भी कर्त्तव्य में दृढ़ करने के लिये अकर्त्तव्य का भी निषेध कर देते हैं, जैसे कि सत्यमेव जयते नानृतम् ? अर्थात् सत्य की ही जीत होती है झूठ की नहीं।

ऐतिह्य शब्द से आधुनिक लेखकों का कल्पित इतिहास न ग्रहण किया जाये। अतः ऋषि ने 'भूमिका' में सत्य प्रमाण और आप्तोपदिष्ट इतिहास को ग्रहण करने योग्य माना है विपरीत को नहीं।

इति-प्रसङ्गे अत्र भूमिकायां 'ऐतिह्य' मित्याधुनिक लेखक-कल्पितेतिहासोऽपि ऐतिह्य-शब्देन न गृह्येत लोकैरिति धियोक्तं—"यत्सत्य-प्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद्ग्राह्यं नातो विपरीतमिति।"

महाभाग, अत्र किंगुणकम् ऐतिह्यं ग्राह्यमितिप्रश्ने, सत्यप्रमाणमिति विशेषणात् असत्यप्रमाणंयद् आधुनिक नवीनपुराणानां ब्रह्मवैवर्त्तादीनां-ब्रह्मयमलादि-तन्त्रग्रन्थानां च यदैतिह्यं तन्न ग्राह्यमिति महर्षेरुत्तरम्।

सत्यप्रमाणमित्यत्र च सत्यं प्रमाणं यस्य तत् सत्यप्रमाणमिति बहुव्रीहि-समासः, यद्वा सत्यं च तत्प्रमाणं सत्यप्रमाणमिति कर्मधारयो वा। वेदार्थपारिजातस्य हिन्दीकारस्यात्र द्वन्द्व-समास-स्वीकरणं तु न साधु।

अथापि कश्चिद् आप्त-संज्ञकः पुरुषः किमपि लिखेत् सत्यं च न तत् स्यात्, तस्य ऐतिह्यत्व-निरासाय आप्तोपदिष्टेन सह सत्यप्रमाण' मिति विशेषितम्। यच्चेहोल्लिखितं भवता 'न प्रमाणेऽपरप्रमाणस्या-वश्यकताऽनवस्थादोषापत्तेरिति।' तत्तु अस्माकमेव समर्थितः सिद्धान्त स्वीकृतो भवता, यश्च पूर्वं वेद-प्रामाण्यप्रसङ्गे नाऽङ्गीकृतः,

---

महाराज, किस प्रकार का इतिहास ग्रहण हो उसके लिये 'सत्य-प्रमाण' विशेषण देने से जो असत्य प्रमाण आधुनिक नवीन ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण और ब्रह्मयमलादि तन्त्र ग्रन्थ हैं, उनके इतिहास का अग्राह्यत्व सिद्ध हो जाता है।

'सत्यप्रमाण में' यहाँ पर सत्यं प्रमाणं यस्य तत् सत्यप्रमाणम् बहुव्रीहि समास है अथवा सत्यं च तत्प्रमाणम् 'सत्यप्रमाणम्' कर्मधारय समास है। वेदार्थ पारिजात के हिन्दी-कर्त्ता ने यहाँ द्वन्द्व समास को माना है, वह ठीक नहीं।

बात यह है कि यदि कोई आप्त नाम का व्यक्ति कुछ लिखे और वह सत्य प्रमाण वाला न हो तो वह ऐतिह्य कोटि में न आ जाये, इसकी निवृत्ति के लिए 'सत्य प्रमाण' विशेषण की आप्तोपदेश के साथ आवश्यकता है।

जो आपने यह लिखा है कि—किसी प्रमाण में दूसरे प्रमाण की आवश्यकता हो, तो इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा, इस प्रकार तो महाराज, आपने हमारा वह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जो वेद प्रामाण्य के प्रसङ्ग में

तदिह लोकोक्तिः संघटते यत्-'भक्षणस्य अन्ये प्रदर्शनस्य चान्ये हस्तिदन्ताः' इति ।

वे. पा. पृ. ५०३ अनु १ इत्यत्र यदुक्तं 'अनधिगताऽबाधितार्थ-विषय-ज्ञान-रूपायाः प्रमायाः असाधारण-कारणं करणं प्रमाणमिति' इत्यत्र प्रमायाः स्वरूपं तावद्दोष-पूर्णम् । 'यथार्थानुभवः प्रमा' इति तल्लक्षणत्वात् । भवल्लक्षणे दिगम्बरमतावलम्बि-छाया एव, यतोहि ते अज्ञातार्थज्ञप्तिः प्रमेति परिभाषन्ते ।

तदेतत् प्रमालक्षणं तेषां धारावाहिक-ज्ञाने अव्याप्ति-दोष-दूषितम् तथा हि :—'अयं घटः' 'अयं घट' इत्येकस्मिन्नेव घटादौ उत्तरोत्तर-समानाकार-घटादिविषयकं ज्ञानमेव धारावाहिकम् तथा सति लक्षणे द्वितीय-तृतीयादिज्ञाने लक्षणस्याऽव्याप्तिः स्यात् द्वितीयादिज्ञानस्य अज्ञातत्वाभावात् ।

न चैवं वाच्यं यत् प्रथमज्ञानस्य प्रथमक्षणे विशेषणे द्वितीयादे द्वितीयक्षणादि-विशेषणे सति उत्तरोत्तर-ज्ञाने पूर्व-पूर्वक्षण-रूप विशेषणाभावत्वात् ।

स्वीकार नहीं किया था । इस प्रकार यहाँ यह लोकोक्ति घटित होती है कि हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और ।

वे. पा. के पृ. ५०३ के अनु. १ में आपने जो लिखा है कि "अनधिगत और अबाधित वस्तुविषयि-ज्ञान-रूपा प्रमा का करणरूप असाधारण कारण प्रमाण होता है । सो यहाँ प्रमा का स्वरूप दोषपूर्ण है, क्योंकि प्रमा का लक्षण है 'यथार्थानुभवःप्रमा ।' आपके लक्षण में दिगम्बरमतावलम्बी 'अज्ञात अर्थ के ज्ञान का नाम प्रमा है, की छाया विद्यमान है ।

सो यह लक्षण धारावाहिक-ज्ञान में अव्याप्ति दोष से दूषित है । जैसेः— यह घड़ा है यह घड़ा है, इस प्रकार एक ही घड़े में उत्तरोत्तर होने वाले समानाकार घटादि-विषयक ज्ञान को ही धारावाहिक ज्ञान कहते हैं । आपका लक्षण मानने पर द्वितीय तृतीय आदि ज्ञान में लक्षण की व्याप्ति नहीं होगी । क्योंकि द्वितीय आदि ज्ञान अज्ञात नहीं होता ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रथम ज्ञान का प्रथम क्षण तथा द्वितीयादि ज्ञान का द्वितीयादि क्षण विशेषण है, ऐसा न होने पर उत्तरोत्तर ज्ञान में पूर्व पूर्व क्षण रूप के विशेषण न होने से उत्तरोत्तर ज्ञान में पूर्व पूर्व

घट-रूप-विशेष्याऽभावे नूतनक्षणविशेषिते अज्ञात-घटे धारा-वाहिकज्ञाने नाऽव्याप्तिः, प्रत्यक्षेण सूक्ष्म-भेदाऽनाकलनात् ।

अति-सूक्ष्म-कालस्याऽप्रत्यक्षत्वाद् द्वितीयादि-क्षणेऽपि घटादि-ज्ञानस्य अज्ञात-विषयतायाः अभावाद् अव्याप्तिदोषः स्यादेव ।

कालभेद-ग्रहे हि क्रियादि-संयोगान्तानां चतुर्णां कार्याणां यौग-पद्याभिमानो न स्यात् । क्रिया,-क्रियातो विभागः, विभागात्पूर्व संयोग-नाशः, ततश्चात्तरदेश-संयोगोत्पत्तिरिति चत्वारि कार्याणि ।

तदेवं भगवन्, यदा भवल्लक्षणमेव दूषितं, 'तदा असत्यत्व-शङ्काऽ-नुत्थानादिति' यदुक्तं तदपास्तम् । अस्मत्पक्षे सत्यप्रमाणे आप्तोपदेशे सति नानृतशङ्का सम्भवः 'परं भवत्पक्षे तु सत्याभासप्रमाणे कल्पिते आप्तोपदेशे अनृत-शङ्कोत्थानस्य-सम्भव एवेति कृत्वा ऋषि-भूमिकायां यल्लिखितं तदेव निर्दुष्टं गौरवान्वितं च ।

क्षण रूप विशेषण के अभाव द्वारा घटरूप विशेष्य का अभाव बना रहेगा । इस प्रकार प्रत्येक क्षण में क्षण रूप नूतन-विशेषण वाले अज्ञात घट के धारा-वाहिक-ज्ञान में अव्याप्ति दोष नहीं आयेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा सूक्ष्म भेद का आकलन नहीं हो सकता ।

अति-सूक्ष्म काल का प्रत्यक्ष न होने से द्वितीयादि क्षण में भी घटादि-ज्ञान की अज्ञात-विषयता का अभाव होगा । अतः आपका उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है ।

यदि काल के भेदों का ग्रहण हुआ करता, तो क्रिया से लेकर संयोग पर्यन्त चारों कार्यों के एक साथ होने का भ्रम न होता । वे चार कार्य ये हैं, नं. १ क्रिया २ क्रिया से विभाग ३ विभाग से पूर्व संयोग का नाश ४ और उत्तरदेश में संयोग की उत्पत्ति ।

इस प्रकार महाराज, जब आपका लक्षण ही दूषित है तब ऋषि दयानन्द के लेख पर असत्यत्व की शंका ही न उठेगी । हमारे पक्ष में सत्य प्रमाणक आप्तोपदेश होने पर अनृत की शंका संभव नहीं, पर आपके पक्ष में सत्याभास प्रमाणक कल्पित आप्तोदेश में, असत्य की शंका का उत्थान होने से ऋषि भाष्य भूमिका का लेख सर्वथा निर्दोष गौरवशाली, और सार्थक है ।

अपि चेह स्थले भगवता दयानन्देन 'व्यासेन ऋषिभिश्च वेदाः रचिता, इत्याद्यपि मिथ्यैवास्ति इति मन्यतामिति प्रोक्तम्, तदपि सत्यं, यतो हि वेद-रचना-प्रसङ्गे पुराणपङ्कपङ्किलैः पौराणिकैः बदाः महर्षि-वेदव्यासेन संङ्कलिताः' इति स्वीक्रियते तन्निरासाय सत्यप्रमाणमिति विशेषणं सार्थकं संपद्यते। व्यासो हि नाम ज्यामिति शास्त्रे वृत्तपारावारीणा मध्यगता रेखा' तद्वत् महर्षि वेद-व्यासोऽपि वेदानां पारङ्गतः आसीत्, अपि च वेदानामर्थ-विस्तार (व्यास) कारणात्व्यासपदभाक् अभवत्, परं नाऽसौ वेदानां निर्माता इति महर्षिमतम्।

भगवन्, अस्मिन् 'भूमिका' ऽनुच्छेदे, यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्ट मैतिह्यं तदेव ग्राह्यं, नातोविपरीतम्' इत्यत्र ऋषि-वाक्ये विपरीतम्, असत्यप्रमाणम् अनृतमिति वा तत् न ग्राह्यं, कुतः, अनृतस्य 'प्रमत्तगीत-त्वात्' इत्येकोहेतुः, नवीन-पुराण-ग्रन्थानां तन्त्रग्रन्थानां च वैयर्थ्या-पत्तेश्चेति द्वितीयो हेतुः। अत्रायमाशयः यद् एषां पुराणादीनां अनृतत्वाद् वैयर्थ्यापत्तिः वैयर्थ्यापत्ति-कारणाच्च नैतेषां पुराणादीना मैतिह्यं प्रामाण्यं भवितुमर्हतीति महर्षेराशयः।

और भी देखिये, इसी स्थल पर स्वामी दयानन्द ने 'व्यास ने और अन्य ऋषियों ने वेद बनाये इत्यादि बातें भी मिथ्या ही माननी चाहिए' यह कहा है, वह सत्य ही कहा है कि क्योंकि पुराण विचार धारा में प्रवाहित पौराणिकों के द्वारा यह माना जाता है कि 'महर्षि व्यास ने वेदों का संकलन किया' उसके निराकरण के लिये 'सत्यप्रमाण' विशेषण आवश्यक है। ज्यामिति शास्त्र में वृत्त के आर-पार जाने वाली रेखा को 'व्यास कहते हैं, तद्वत् व्यास जी भी वेदों में पारङ्गत थे और उन्होंने वेदों का व्यास अर्थात् प्रचार एवं प्रसार किया अतः वे 'व्यास' पदवी को प्राप्त हुये। परन्तु वे वेदों के निर्माता नहीं थे। ऐसा ऋषि का मत, है।

महाराज, 'भाष्यभूमिका' के इसी अनुच्छेद में जो 'सत्यप्रमाण आप्तोपदिष्ट इतिहास है, वही ग्रहण करने योग्य है इससे विपरीत नहीं' इस वाक्य में असत्यप्रमाणम् जो अनृत है वह ग्राह्य न होने में प्रथम हेतु यह है कि वह 'प्रमत्तगीत है। द्वितीय हेतु यह है कि नवीन पुराण और तन्त्रग्रन्थों की व्यर्थता का होना। आशय यह है कि इन पुराणादिकों की भी अनृत होने के कारण व्यर्थता होने से प्रामाणिकता (ऐतिह्यप्रमाणगत) नहीं हो सकती।

यद्वा ये केचन नवीनकालरचितानां ब्रह्मवैवर्त्तादि-पुराणानां ब्रह्मयमलादि-तन्त्रग्रन्थानां च ऐतिह्यकोटौ प्रामाण्यं मन्यमानाः सन्ति तेषां सम्बन्धे ऋषेरियं मान्यता यत् तादृशानामपि अनैतिह्यत्वमेव, वैयर्थ्यस्य आपत्तिः अधिगमस्तस्मात् कारणात् तेषामपि ग्रन्थानामेवमेव मिथ्यात्वं च वाच्यमिति।

श्रीमन्, यच्च भवताऽभिप्रीयते यत् "पुराणादीनामस्तु वैयर्थ्यापत्तिः, परं व्यासादिवचनत्वाऽभावो मास्तु" इति तदपि न युक्तं, पुराणानां व्यासकृतेरभावात्। 'तस्माद् यज्ञात् इति मन्त्रे छन्दः पदस्य वैयर्थ्यापत्तेः अथर्ववेद-ध्वननवत् पुराणानां रचना व्यासस्येति न ध्वनि-तुमर्हति, वेदे एकस्यापि पदस्य व्यर्थत्वस्य शङ्काया अनवकाशत्वात्।

अपि च भवता यदत्र, छन्दोपदमिति' प्रयुक्तं, तत्तु व्याकरण-दृशा सर्वथा चिन्त्यमेव, छन्दः पदस्य विसर्गान्ततया कुप्वोः ⌣क⌣पौचेति सूत्रेण छन्द⌣पदमिति प्रयोगार्हत्वात्, विकल्पे तु छन्दः पदमिति वा साधु, परं हशि एवोत्व-संभवात् छन्दोपदमिति न कथञ्चित् साधु।"

अर्थात् जो कोई लोग आजकल के नवीनकालीन ब्रह्मवैवर्त्तादिपुराण और तन्त्रग्रन्थों की ऐतिह्य प्रमाण-कोटि में प्रामाणिकता मानते हैं उनके सम्बन्ध में ऋषि की यह मान्यता है कि इसप्रकार के आधुनिक पुराणों को ऐतिह्य न मानने से उनकी व्यर्थता की प्राप्ति होने से उनका मिथ्यात्व जानना चाहिये।

महाराज जी आपका यह जो कहना है कि "पुराण आदिकों की व्यर्थता भले ही हो, परन्तु पुराण महर्षि व्यास-निर्मित नहीं हैं यह बात ठीक नहीं, सो आपकी यह बात ठीक नहीं क्योंकि पुराण महर्षि व्यास के बनाये कदापि नहीं हैं। और आपने 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्र में छन्दांसि पद की व्यर्थता सिद्ध करके अथर्ववेद के समान पुराणों की रचना व्यासकृत सिद्ध की है सो, ठीक नहीं, क्योंकि वेदों में एक भी पद की व्यर्थता का प्रश्न ही नहीं, उनका प्रत्येक पद सार्थक है।

आपने जो यहाँ छन्दोपदम्' यह प्रयुक्त किया है वह व्याकरण-दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि छन्द पद विसर्गान्त होने से प अक्षर के परे रहने पर कुः प्वोः क.पौच सूत्र से छन्द ⌣पदम् यह बनना चाहिये अथवा विकल्प में छन्दःपदम्' यह भी बन सकता है। यह हश् के परे न होने पर उत्व करना सर्वथा अशुद्ध है।

ननु 'अष्टादश पुराणानां, कर्त्ता सत्यवती-सुतः इति प्रमाणेन पुराणानां व्यासरचितत्वं स्यादिति चेन्न, अत्राह, महर्षिःदयानन्दः, अष्टादशपुराणानां कर्त्ता व्यासोऽभविष्यचेत्तेष्वेतावन्ति गप्पयाष्टकानि नाभविष्यन्, व्यासकृतानां शारीरक-सूत्राणां योग-सूत्रादिभाष्याणां चावलोकनेन ज्ञायते यद् महर्षि-व्यासः महान् विद्वान् सत्यवादी योगी चासीदिति।

यदि पुराणानि व्यास-रचितानि अभविष्यन्तर्हि तत्र आप्तपुरुषस्य श्रीकृष्णस्य योगिनो गोपिकानां स्नानप्रसङ्गे ईदृशमत्यन्तमश्लीलं चित्रणं नाऽभविष्यत्। किञ्च नानाविधाः श्रीकृष्णचरित्र-दूषकाः प्रसङ्गास्तत्र नाभविष्यन्, तथैव च शिवादिपुराणेष्वपि वेदविरुद्धाः, बुद्ध्यसंगता अत्यन्तमश्लीलाः शिवलिङ्ग-प्रसङ्गाः नाऽभविष्यन्। (यथा च महर्षिणा सत्यार्थप्रकाशे लिखितमस्ति।)

न च महर्षिव्यासः वेदान् सङ्कलितवान् इतिवाच्यम् तथात्वे तु स्वयं व्यासेन, तत्पूर्वकालवर्त्तितत्पिता, पितामह, पाराशर शक्ति, वसिष्ठ, ब्रह्मादिभिः चतुर्णां वेदानां पठनस्याऽसम्भवात्।

यदि 'अष्टादश पुराणां कर्त्ता सत्यवतीसुतः इस उक्ति के अनुसार पुराणों को व्यासरचित माना जाय, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्वामी दयानन्द ने कहा है कि यदि पुराणों के रचयिता वेद व्यास होते तो उनमें इतनी गप्पाष्टक न होतीं। महर्षि व्यासरचित शारीरक-सूत्र तथा योग सूत्र भाष्य के देखने से पता चलता है कि महर्षि व्यास महान् विद्वान् सत्यवादी योगी और आप्त थे।

यदि पुराण व्यासरचित होते तो उनमें आप्तपुरुष योगेश्वर श्रीकृष्ण का गोपिकाओं के स्नान प्रसङ्ग में इतना अश्लील चित्रण न होता, तथा च श्रीकृष्ण के चरित्र को दूषित करने वाले नानाविध प्रसङ्ग न होते और शिवपुराण आदि में वेदविरुद्ध बुद्ध्यसंगत अत्यन्त अश्लील (शिव-लिङ्ग के) चित्रण न होते। महर्षिदयानन्द ने इस विषय में स्पष्ट लिखा है। अठारह पुराणों के रचयिता यदि व्यास होते तो····· गप्पाष्टक न होते।····· वे सत्यवादी··· ··· योगी थे······वेद शास्त्र विरुद्ध····· काम नहीं हैं इत्यादि।

महर्षि व्यास ने वेदों का संकलन किया यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि यह बात ठीक होती तो स्वयं व्यास और उनके पूर्वज पाराशर, शक्ति, वसिष्ठ ब्रह्मा आदि परवर्त्ती वेदों को कैसे पढ़ सकते थे ?

स्वामिन्, केवलमसूयावशात् वे. पा. ५०४तमे पृष्ठे भवता यदुच्यते "तदनुयायिनस्तं महर्षि मन्यन्ते-तच्च सर्वथा निर्मूलमिति" तदेतत् मननं समूलं सर्वथा सत्यञ्चेति, किञ्च किं तावद् ऋषित्वमिति भवता न बुध्यते।

विज्ञायतां तावद्-'ऋषि' शब्द-विवेचनं वैशद्येन तथाहि :— ऋषित्वं हि त्रिधा, प्रथमं तावत् मन्त्रद्रष्टृत्वं, द्वितीयं ब्राह्मणानुब्राह्मण-कल्पादि-वेदाङ्गशास्त्र-प्रवक्तृत्वं, तृतीयं पूजनीयापरपर्यायकमिति। मन्त्रद्रष्टृत्वेन मन्त्रार्थद्रष्टृ-वसिष्ठादीनां मुख्यमृषित्वम् तथा च आश्वालायनगृह्यसूत्रे तेषां नामतः परिगणनम्।

अथ ऋषयः। माध्यमा गृत्समदो, बिश्वामित्रोऽत्रिर्भारद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति (आ० ३।४।२) अत्रहि मन्त्रार्थद्रष्टारः मन्त्रैः सह समुल्लिखिता एव ऋषय परिगणिताः।

अथापि निरुक्तेऽपि मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्, को नु ऋषिर्भविष्यति ? इति। तेभ्यः तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थ-

---

महाराज, केवल असूया के कारण आपने वे. पा. के पृ. ५०४ पर ऐसा लिख दिया है कि "उनके अनुयायी उनको महर्षि मानते है यह सर्वथा निर्मूल है" वह हमारे विचार में आपका यह निर्मूल कथन ही निर्मूल है।

ऋषित्व के विषय में विस्तार से ऋषि शब्द का विवेचन सुनिये :—

ऋषि तीन प्रकार के होते हैं—पहले मन्त्रदृष्टा। दूसरे-ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, कल्पादि वेदाङ्ग शास्त्रों के प्रवक्ता। तीसरे-पूजा के योग्य, मन्त्रदृष्टृत्व के नाते वसिष्ठ आदि का मुख्य ऋषित्व है। जैसा कि आश्वलायन गृह्यसूत्र में नाम लेकर परिगणन किया गया है। उसके पश्चात् ऋषिजन। माध्यम गृत्समद, विश्वामित्र, अत्रि, भारद्वाज, वसिष्ठ प्रगाथ पावमान्य, शुद्धसूक्त और महासूक्त" (आ० ग्र-३।४।२)। यहाँ पर वेदमन्त्रों के साथ लिखित ऋषि ही गिने गये हैं।

इसी प्रकार निरुक्त में भी-ऋषियों के उत्क्रमण करने पर मनुष्यों ने देवताओं से कहा कि अब हमारा ऋषि कौन रहेगा। तब उनके लिये देवों ने यह तर्क रूपी ऋषि प्रदान किया जो कि मन्त्रों की चिन्ता से अभ्यूढ है। इस लिये विद्वान् जो भी अभ्यूहन करता है वह आर्ष है। (निरु० १३।११।१६)"

चिन्ताऽभ्यूढमभ्यूढम् । तस्माद् यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं भवति (निरु० १३।१।१३)।

तदेवमनूचानत्वे सति मन्त्रार्थाभ्यूहनसमर्थत्वमृषित्वमिति फलितम् । तदेतदनेकशास्त्र-समर्थितं मुख्यमृषित्वं स्वामिनिदयानन्दे पूर्णतया संघटते ।

अपि च श्रूयतां, ऋषिर्दर्शनात् इति सार्थकं कुर्वन् किमसौ वेदानां वैज्ञानिकं बुद्धिसंगतं वैदुष्ययुतं भाष्यं नाकरोत् ? किमसौ वेदानां पठनं पाठनं चेत्यार्याणां परमो धर्म इति नियमं न निरधारयत् ? किञ्चास्य दर्शनानां शास्त्राणां च दर्शनम् अद्भुतं नैवाऽऽसीत्, अवश्यमासीत् । तदेवं न केवलमसौ ऋषिरासीत्-अपितु मन्वादिभ्योऽपि ऋषिभ्यो व्यतिरिक्तां विधर्मिशुद्धेः विधिं (व्यवस्थां) प्रतिपाद्य आर्यजातिं विनाशादरक्षत्, अतोऽसौ ऋषीणामग्रगण्यो दयानन्दो नूनं महर्षिरासीत्, अतस्तदनुयायिनस्तं सत्यमेव महर्षिं मन्यन्ते । यः तस्य महर्षेः शतशो गुणान् पश्यन्नपि न पश्यति श्रृण्वन्नपि न श्रृणोति, स च को भवति इति स्वयं निश्चिनोतु ।

इस प्रकार (अनूचान) विद्वान् होने पर मन्त्र के अभ्यूहन की सामर्थ्य ही ऋषित्व है, सो अनेक शास्त्रों से समर्थित यह ऋषित्व स्वामी दयानन्द में पूर्णतया घटित होता है ।

महाराज, और भी सुनिये, क्योंकि 'ऋषि-दर्शनात्' अर्थात् किसी अर्थ के दर्शन विशेष के कारण कोई भी व्यक्ति ऋषि कहलाता है क्या स्वामी दयानन्द ने मन्त्रार्थ दर्शन करके वेदों का बुद्धि संगत वैज्ञानिक भाष्य नहीं किया ? क्या उन्होंने वेदों की विलुप्त परम्परा को पुनः चालू नहीं कराया ? क्या उन्होंने वेदों का पढ़ना पढाना आर्यों का परम-धर्म नहीं ठहराया ? क्या उनका दर्शनों और शास्त्रों का दर्शन अद्भुत न था ? अवश्य था । इस प्रकार वे न केवल ऋषि थे, अपितु मन्वादि ऋषिओं से भी (अधिक) विशिष्ट थे विधर्मियों की शुद्धि व्यवस्था का प्रतिपादन करने के कारण उन्होंने आर्यजाति को विनाश से बचाया अतः वे ऋषियों के अग्रगण्य महर्षि थे । इसलिये उनके अनुयायी उनको 'महर्षि' के रूप में ठीक ही मानते हैं । पर आप तो उनके सैकड़ों गुणों को भी देखते हुये भी नहीं देखते हो और सुनते हुये भी नहीं सुनते हो । इसलिये आप किस कोटि में आते हो यह स्वयं ही निश्चित करो ।

अपि च भगवन्, यः अन्येषां प्रसिद्धान् गुणानपि स्वासूयोपहत-चेतसा न गृह्णाति, तत्र तु इयमेव निर्मलोक्तिः संघटते :—

नैव गोमय-कीटो हि, नासा-निहित-गोमयः ।
इन्द्रोद्यानेऽपि गृह्णाति, पुष्पाणां सौरभं महत् ॥

महाभाग, भवान् युक्तियुक्तमपि महर्षिवाक्यं खण्डयितुमुद्यतोऽस्ति । यथा- महर्षिणा दयानन्देन सयुक्तिकं लिखितं 'परमेश्वराद् वेद-प्रादुर्भावः अभवद् इति, तदिदमपि न युक्तं प्रतिभाति भवन्तम्, अतो भवान् लिखति "का वाचोयुक्तिर्यथा परमेश्वरादेव वेदोत्पत्तिरभ्युपेयेति ।"

यदि भगवन्, परमेश्वराद्वेदोत्पत्तौ भवत्संदेहः आसीत्तर्हि स्वार्चनीयचरणस्य शङ्कराचार्यवर्यस्य भाष्यमेव दृग्गोचरमकरिष्यत् स हि भवद्गुरुः सुस्पष्टमेव अलिखत् यत् "महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञ-कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नेदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञ-गुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति । (वेदा० भा० १।१।३)

इसके अतिरिक्त आप ऋषि के गुणों को असूयावृत्ति से देखते हो, इसलिये आपके लिये यह निर्मलोक्ति चरितार्थ होती है :—

जिस कीड़े ने अपनी नासिका में गोबर की गन्ध भरली है, वह इन्द्र के उद्यान में पुष्पों की महती सुगन्धि को भी ग्रहण नहीं करता । महाराज, यहाँ तक कि आप महर्षि के युक्तियुक्त वाक्यों को भी खण्डन करने में हाथ धोकर जुट पड़े हो । जैसे कि ऋषि ने लिखा है :—परमेश्वर से वेद उत्पन्न हुये, सो यह कथन भी आपको ठीक नहीं लगता और आप लिखते हैं कि इसमें क्या दलील हैं कि वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से मानी जाय ।

यदि महाराज, आपको परमेश्वर से वेदों की उत्पत्ति में संदेह था तो अपने परमपूज्य गुरु शंकराचार्य के वेदान्त भाष्य को ही देख लेते, उन्होंने तो स्पष्ट लिखा है :—'अनेक विद्याओं के स्थान ऋग्वेदादि शास्त्र जो प्रदीप के सदृश सब अर्थों के प्रकाशक हैं, का मूल कारण ब्रह्म है । ऐसे ऋग्वेदादि विलक्षण शास्त्र की जो सर्वज्ञगुणों से युक्त है, उसकी सर्वज्ञब्रह्म के अतिरिक्त (अन्य) से उत्पत्ति नहीं हो सकती । (वेदा. भा. १।१।३)

तदेवं स्वामिन्, भवद्गुरोरेव एषा वाचोयुक्तिः यथा सुस्पष्टमेव परमेश्वराद् वेदोत्पत्तिरम्युपेता ।

यच्चाप्युक्तं 'नाग्न्यादिभ्यः श्रुताऽप्युत्पत्तिरिति, अत्रेदमवधेयं यत् 'वेद-रूपं ज्ञानं नाग्न्यादीनां स्वकीयं ज्ञानमपितु ईश्वरीयं ज्ञान-मग्न्यादिमाध्यमेन प्रकटीभूतं ततश्च लोके प्रसृतमिति ।

यच्चभवानाह—"सिद्धान्ते तु वेदानां, नित्यतया न कस्माद प्युत्पत्ति" रिति तु विरम्यतां, सखे ! शास्त्र विरुद्धकल्पनात् । यद्यपि नित्यानां पदार्थानां गुणा अपि नित्या भवन्ति परं तेषां गुणानां काचिदुत्पत्तिः प्रकाशनं वा न भवेदिति नास्ति नियमः ।

वेदानां प्रादुर्भूतेरनुभूतिस्तु परेण जीवेन क्रियते । वेद-ज्ञानं हि गुणः परमेश्वरस्य, तस्य सूर्यस्य उष्णत्वप्रकाशगुणवद् आश्रयिणो ऽपृथक्त्वेऽपि अनुभूतिर्भवत्येव । अत ईश्वरस्य वेद-ज्ञाने नित्यत्वेन स्वीकृतेऽपि तत्प्रादुर्भावे न कश्चन दोषः । तदेवं ईश्वराद्-

---

सो, यह हमारे गुरु की नहीं आपके गुरु की वाचोयुक्ति परमेश्वर से वेदों की उत्पत्ति बतलाती है । और आपने यह जो कहा कि "अग्नि आदि ऋषियों से वेदों की उत्पत्ति किसी ने नहीं सुनी ।' सो यह बात ध्यान देने योग्य है कि वेद रूप ज्ञान, अग्नि आदि ऋषियों का अपना ज्ञान नहीं है अपितु ईश्वर से लिया हुआ ज्ञान अग्नि आदि ऋषियों के माध्यम से प्रकट हुआ है । और फिर वह लोकों में फैला है ।

जो आपने यह कहा कि 'सिद्धान्त रूप में तो, वेदों के नित्य होने से किसी से भी उत्पत्ति नहीं होती । सो ऐसी शास्त्र विरुद्ध कल्पना से बाज आइये ।

यद्यपि नित्य पदार्थों के गुण भी नित्य होते हैं, परन्तु उन गुणों की प्रादुर्भूति अथवा प्रकाशन नहीं होता ऐसा कोई नियम नहीं । वेदों की प्रादुर्भूति की अनुभूति तो जीवों के द्वारा ही होती है । वेद ज्ञान परमेश्वर का गुण है उसका प्रादुर्भाव और अनुभूति सूर्य के उष्णत्व 'प्रकाश गुण के समान आश्रयी से भिन्न न होने पर भी होती ही है ।

इसलिये वेदज्ञान को ईश्वर का नित्यगुण मानने पर भी उसके प्रादुर्भाव में कोई दोष नहीं । लेखक ने ईश्वर से वेदोत्पत्ति को अग्न्यादि ऋषियों द्वारा

वेदोत्पत्तिममन्यमानः 'तामन्वविदन् ऋषिषु प्रविष्टामिति'वेदवाणी मपि विरुणद्धि लेखकोऽयमिति विदन्तु विद्वांसः ।

यच्चाप्युक्तं' सम्प्रदायप्रवर्तत्वकन्तु यथैवेश्वरस्य मन्यते, तथैव ब्रह्मादीनामृषीणामग्न्यादीनां च सम्भवत्येव' इति । तदेतत्परीक्ष्यते :-

पू. प. कोऽयं सम्प्रदायो नाम ?

उ. प. गुरुपरम्परा-गतः सदुपदेशः,

(पू. प.) को भेदस्तर्हि भवत्सम्मते सदुपदेशे अन्य-सम्प्रदाये च ?

उ. प. अस्माकं सृष्टे रादिकालादारब्धः ।

पू. प. यदि भवत्सम्मतः सृष्टिकालादारब्धश्चेत् ?

उ. प. तेषामपि ।

पू. प. अथ अन्यमतावलम्बिनां विविधाः प्रवर्तकाः सन्तिचेत् ?

उ. प. तथा अस्माकमपि ।

पू. प. तेष्वेकतमार्यसामाजिकानां तु इदं मतं यत् सर्गादौ परमेश्वरेण ज्ञानं प्रवर्तितमिति ।

उ. प. परन्तु सुप्त-प्रबुद्धन्यायेन अस्माकंमतेऽपि अनादित्वं नित्यत्वञ्चेति ।

मानने पर आक्षेप करते हुये, 'ऋषिषु प्रविष्टाम्' इस ऋग्वेदीय वाणी का विरोध भी किया है ।

महाराज, आपका यह कथन कि—'सम्प्रदायप्रवर्तकता जैसे ईश्वर की मानी जाती है वेसे ब्रह्मादि ऋषियों और अग्न्यादिकों की भी संभव है ? इसकी विवेचना भी सुनिये ।

पू. प. तुम्हारा सम्प्रदाय क्या है ? (उ. प्र.) गुरु परम्परागत सदुपदेश ।

पू. प. फिर आपके माने हुये तथा अन्य सम्प्रदायों में क्या अन्तर है ।

उ. प. यदि हमारा सम्मत सम्प्रदाय सृष्टिकाल से प्रारब्ध है तो उनका भी ।

पू. प. यदि उन मतावलम्बियों के विविधा प्रवर्तक हैं ।

उ. प. तो हमारे भी ।

पू. प. उनमें से एक यह आर्यसमाजिकों की मान्यता है कि सृष्टि के आदि में परमेश्वर का वेद ज्ञान प्रवर्तित हुआ है ।

उ. प. परन्तु सुप्तप्रतिबुद्धन्याय से हमारे मत में अनादित्व और नित्यत्व है ।

आक्षेपोऽत्र :—भगवन् यदीदं सत्यं तर्हि वेदाः नेश्वरीयं ज्ञानमिति मान्यता किमर्थं क्रियते ? भवदुक्त-सम्प्रदाय-परम्पराया मपीश्वरः आदि-प्रवर्त्तकत्वेन नोपेक्षणीयः, 'स पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदादिति योगदर्शनप्रमाणात् ।

अथ च नवीनवेदान्तिनो भवतः ईश्वराऽप्रवर्तित-सम्प्रदायस्य ईश्वरात् पृथक्त्वं चेत्तदा नाद्यनन्तत्वाच्च सिद्धान्त-क्षतिः । ब्रह्मणोभिन्नस्यापि अस्य नित्य-सत्तात्मकत्वात् ।

अपि चेदमपि ब्रवीतु भवान् यद् भवतः सम्प्रदाय-प्रवर्तित-ज्ञानं द्रव्यं गुणोवेति ? यदि द्रव्यं को गुणोऽस्य ? गुणश्चेत् प्रलय-काले कस्मिन् द्रव्ये तत्तिष्ठति ? पृथक् चेदीश्वरात्तिष्ठति, तदा कुत्र तिष्ठति ? किमात्मनि प्रकृतौ वा ? नाद्यम्, तज्ज्ञानस्यात्मनि स्वाभाविकत्वाभावेऽनाश्रयणात्, नापि द्वितीयं, प्रकृतौ जडत्वान्न तत्र तत्स्थितिसम्भवः, ज्ञानस्य चेतन-धर्मत्वात् । यदि चेश्वरे तत् तिष्ठति इति स्वीक्रियते तदा तु आस्माकीनराद्धान्तोपपन्नतैव, सर्वशास्त्रशङ्का-समाधानोपपतिश्च ।

आक्षेप—फिर महाराज, यदि यह सत्य है तो वेद ईश्वर का ज्ञान नहीं यह मान्यता किस लिए आप कर रहे हैं ? तब तो आप की कही सम्प्रदाय परम्परा में ईश्वर की आदि-प्रवर्त्तक के रूप में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि इसमें 'सर्वेषां'-अर्थात्-वह परमात्मा सबका आदि गुरु है, काल के (अनवच्छिन्न) अटूट होने से यह योग-दर्शन का प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर से अप्रवर्तित सम्प्रदाय के मानने वाले आप वेदन्तियों के मत में वेद ज्ञान ईश्वर से भिन्न किन्ही जीवों के द्वारा सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय से फैला और अनादि अनन्त है। इस प्रकार तो 'एकमेव ब्रह्म' सिद्धान्त की क्षति हो जाती है क्योंकि इनकी सत्ता ब्रह्म से पृथक् माननी पड़ती है।

दूसरे यह भी आपको बताना होगा कि आपका सम्प्रदाय प्रवर्तित-ज्ञान द्रव्य है या गुण ? यदि द्रव्य है तो इसका गुण क्या है ? यदि गुण है तो प्रलयकाल में किस द्रव्य (अनाद्यनन्त) में ठहरता है ? यदि ईश्वर से पृथक् ठहरता है तो फिर क्या वह जीवात्मा में या प्रकृति में, किसमें ठहरता है ? आदि पक्ष तो बन ही नहीं सकता, क्योंकि वह ज्ञान आत्मा में स्वाभाविक रूप से रह नहीं सकता, और द्वितीय पक्ष भी नहीं बनता प्रकृति

यच्चाप्युक्तं 'व्यासस्यानृषित्वोक्तिस्तु दयानन्दस्य धाष्टर्यम् इति, तदिदं प्रलपनं तु भवत्येव चरितार्थं भवति, स्वामिनि दयानन्दे मिथ्यादोषाऽऽरोपणात्, यतोहि नहि भगवता दयानन्देनेह महर्षिव्यासस्य अनृषित्वं प्रतिपादितम् । तस्य 'एवमेव व्यासेन ऋषिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम्' इति वाक्ये व्यासस्य महर्षेः अनृषित्वस्य गन्धः कुतो भवन्तमायात इतितु भवानेव जानातु । महर्षिदयानन्दस्तु केवलमत्र वेदानां कर्त्तृत्वं न व्यासस्य नाप्यन्यर्षेः इति प्रतिपादयति, नात्र व्यासस्य ऋषित्व-खण्डनस्य गन्धोऽप्यास्ते, पुनरपि यदि भवद्बुद्धिः तादृशगन्धमनुभवति तर्हि विदांकरोतुभवान् 'यदि महर्षेर्दयानन्दस्य हृदये व्यासं प्रति ऋषिभावो नाऽभविष्यत् तर्हि स्वग्रन्थे संस्कारविधौ सत्यार्थप्रकाशे च ऋषिप्रणीतग्रन्थेषु व्यासमुनिप्रणीतानां योगसूत्र—पूर्वमीमांसादि-भाष्याणां गणनां नाऽकरिष्यत् । अपि च व्यासमुनिकृतं शारीरक-सूत्रं संस्कार-विधौ सर्वबालानाम्

के जड़ होने से उसमें स्थिति संभव नहीं, ज्ञान चेतन का धर्म है। यदि कहो, ईश्वर में ठहरता है तब तो हमारा सिद्धान्त उपपन्न हो गया। और इस प्रकार फिर समस्त शंकाओं के समाधान सम्भव हैं।

और जो आपने कहा कि—'व्यास ऋषि को ऋषि न मानना दयानन्द की धृष्टता है सो महाराज यह प्रजल्पन आप पर ही चरितार्थ होता है, स्वामी दयानन्द पर आपने झूठा आरोप लगाया है।

यहां महर्षि दयानन्द ने व्यास का अनृषित्व प्रतिपादित नहीं किया। ऋषि के 'व्यासेन' ऋषिभिश्चेत्यादि वाक्य में व्यास को अनृषि बताने की गन्ध कहाँ से आ गई यह तो आप ही जाने। यहां तो स्वामी दयानन्द ने—वेदों के कर्त्ता व्यास नहीं है और न अन्य ऋषि, जैसा कि लोग मानते हैं इतनी सी बात का प्रतिपादन किया है। यहाँ ऋषिभिः से तात्पर्य व्यास से भिन्न ऋषियों से है न कि व्यास के ऋषित्व के व्यावर्त्तन से। यदि आपको व्यास के ऋषित्व के अप्रतिपादन की गन्ध आती है तो फिर आपको जानना चाहिये कि यदि व्यास के प्रति महर्षि के हृदय में अनृषित्व का भाव होता तो वे अपने सत्यार्थ प्रकाश में ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में व्यासकृत योग सूत्र भाष्य तथा पूर्वमीमांसा के भाष्य की गिनती न करते। और व्यास मुनिकृत भाष्य के पढ़ाने का सब बालकों के लिये प्रतिपादन न करते।

अध्ययनाय न प्रत्यपादयिष्यत् । किञ्चासौ स्वग्रन्थेषु बहुत्र पाणिनि, यास्क, कपिल कणाद गोतमादितुल्यं, व्यासमपि मुनिशब्देन न सम मानयिष्यत् । अथ च स्वामी दयानन्दस्तु स्वपत्रव्यबहारे बहुमान-पुरस्सरं व्यासादीन् ऋषि-मुनिशब्दाभ्यां स्पष्टमेव प्रस्तौति यथा :—महाविदुषामार्याणां पूर्वजानां यथावद्वेदार्थ-विदाम् आप्तानामाप्तकामानां धर्मात्मनां सर्वलोकोपकार-बुद्धीनां, श्रोत्रियाणां ब्रह्मनिष्ठानां परमयोगिनां ब्रह्मादि-व्यासपर्यन्तानां मुन्यृषीणाम्" इत्यादि (प० व्य० ६३।१८-८२)

किं भोः, किमधुनाऽपि दयानन्दमते व्यासस्य ऋषित्वे सन्देहः ? यदि नैव, तर्हि स्वाग्रहः संत्यज्यतां प्रभो । किञ्च ऋषि-मुनि शब्दाभ्यां व्यासं सम्मानयत्यपि दयानन्दे महर्षिव्यास-विषयकमनृषित्व-दोषारोपणं भवतो 'गुणेषु दोषारोपणमसूयेति असूयकत्वमेव सूचयति ।

किञ्चैतद् धाष्टर्यम्' इति कथनं पौराणिके भवत्येव चरितार्थं भवति, यतोहि पौराणिका एव पुराणकर्त्तारं व्यासं मन्यमानाः 'पुराणकर्त्ता व्यभिचारजात' इति वदन्तः धाष्टर्यमाचरन्ति । परं महर्षि दयानन्दस्तु व्यासं पुराण-कर्त्तारं न मन्यते इति कारणात् न तत्र धाष्टर्यारोप-संम्भवः ।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि स्वामी दयानन्द ने अपने पत्र-व्यवहार में बहुत सम्मान-पूर्वक व्यासादि ऋषियों को ऋषि-मुनि शब्दों से प्रस्तुत किया है जैसे—महान् विद्वान आर्य, धर्मात्मा, सर्वलोकोपकार बुद्धि वाले वेदार्थ ज्ञाता आप्त तथा आप्तकाम, श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ परमयोगी ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त ऋषि मुनियों का इत्यादि (प. व्य. ६३/१८-२२

क्या महाराज, अब भी आपको व्यास के ऋषित्व पर संदेह है, यदि नहीं तो दुराग्रह छोड़िये ।

इस प्रकार महाराज व्यास जी को ऋषि मुनि शब्दों से कहने वाले ऋषि दयानन्द पर अनृषत्व कथन का आरोप लगाना आपकी असूया को सूचित करता है ।

इस कथन को स्वामी दयानन्द की धृष्टता कहना महाराज आपकी ही धृष्टता है क्योंकि स्वामी दयानन्द और उसके अनुयायी तो नहीं, पर

ननु ऋषित्वे व्यासस्यापि परिगणना तर्हि दयानन्दीये तत्र वाक्ये व्यासस्य पृथक् ग्रहणं किमर्थमिति चेद्, गोबलीवर्दन्यायेन व्यासस्यापि ग्रहण-सम्भवान्न काचिद्दोषापत्तिः । तदेवमत्र ऋषिवाक्ये शङ्कमानः करपात्रमहोदय : गोबलीवर्दन्यायमपि न जानीतीति महदाश्चर्यम् ।

यच्चोक्तं 'नवीन-पुराण-ग्रन्थानामित्यत्र कर्मधारय-समासो मध्यमपदलोपिसमासो वा न सम्भवति' इति, तदपि समासानभिज्ञानमेव करपात्रिणः ।

किं भोः, मध्यमपदलोपे लोपकं सूत्रं किं पुराण-पदस्य सामर्थ्यं द्रक्ष्यति आहोस्वित् तदर्थमपि ? 'जायतेऽत्रप्रश्नः, किं सामर्थ्याऽभावे मध्यमपदलोपिसमासो न भवति ? उत तदर्थदर्शनाऽभावेऽपि ? यदि तावदर्थदर्शनाऽभावे समासो न भवति इति स्वीक्रियते तदा तु बन्ध्यायाः पुत्रस्य दर्शनाभावे वन्ध्यायाः पुत्रः, वन्ध्यापुत्रः इति षष्ठीसमासोऽपि न स्यात्, भवति च ।

अतः नवीनैःरचितं पुराणमिति नवीन पुराणमित्यत्र मध्यमपदलोपी समासः सम्भवत्येव ।

आपके अनुयायी पुराणों के कर्त्ता व्यास जी को स्पष्ट रूप से ऋषि तो क्या व्यभिचारोत्पन्न कहते हैं जैसा कि 'पुराणकर्त्ता इत्यादि श्लोक हैं ।

स्वामी दयानन्द व्यास जी को पुराण कर्त्ता ही नहीं मानते, अतः उन पर 'धाष्टर्य' का आरोप लगाना कदापि उपयुक्त नहीं ।

अच्छा यदि स्वामी दयानन्द के मत में व्यास जी की ऋषियों में गिनती है तो फिर इस वाक्य (व्यासेन ऋषिभिश्च) में व्यास की अलग गणना क्यों की ? यह शंका उत्पन्न हो तो उसका समाधान यह है कि जैसे—गौ और बैल एक ही जाति के होते हैं फिर भी उनका अलग-अलग ग्रहण हो जाता है और वह गोबली-बर्द न्याय बन जाता है । उस न्याय से यद्यपि व्यास भी ऋषि हैं, परन्तु फिर भी उनका अलग से ग्रहण ऋषित्व के निषेध के लिए नहीं अपितु ऋषि विशेषत्व प्रतिपादन के लिये है । इस प्रकार करपात्री जी गोबली बर्द न्याय को भी नहीं जानते जो अर्थ का अनर्थ करते हैं यह बड़ा आश्चर्य है ।

जो यह कहा कि—'नवीन पुराण-ग्रन्थानाम्' यहाँ कर्मधारय समास या मध्यम-पदलोपी समास नहीं बन सकता, सो यह करपात्रीजी के समास के अनभिज्ञत्व का द्योतक है ।

ननु नवीनशब्दः नवीनार्थवाची पुराणशब्दश्च पुरातनार्थवाची तदा एतयोः विपरीतार्थयोः कथं समासः इतिशङ्का चेन्न युक्ता, भविष्यच्च तत् पुराणं चेति भविष्यत्पुराणमितिवत् नवीनं च तत् पुराणमिति नवीन-पुराणमिति समासे न कश्चन दोषः।

किञ्च नवीनस्य पुराणस्य च शब्दयोः विपरीतार्थकत्वे सामानाधिकरण्याऽभावात् न समास-सम्भव इति चेन्न, पुराणशब्दस्याऽत्र रूढितया अग्निशिवादिग्रन्थरूपपुराणवाचकत्वात् न विपरीतार्थकत्वं, नाऽपि सामानाधिकरण्याऽभावत्वम्। महर्षिदयानन्दस्य दृष्टौ शिवादि पुराण। नां न वस्तुतः पुराणं नाम, अपितु ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणं नाम।तन्मते तु शिवादिपुराणानां नवीनपुराणेति संज्ञा। ततश्च नवीनमिति विशेषणं पुराणञ्चेति विशेष्यम्। तदा कीदृशं पुराणं ? नवीनं पुराणं 'यद्ब्रह्मवैवर्त्तादि' इति, न तु ब्राह्मण-रूपं पुरातनं पुराणम्। तस्य व्यावर्तकं नवीनमिति विशेषणं, ततश्च नाऽत्र शङ्का-क्लेश लेशोऽपि धीमताम्।

"एकस्मिन्नर्थे" इत्यनेन तु द्वन्द्व-विपरीत-त्वं कथितमिति" कैयटोक्त्या भवत्प्रसूयमानस्य नवीनञ्चपुराणञ्चेति द्वन्द्वस्य कल्पनातु व्याकरण-विरुद्धा।

वे कहते हैं कि नवीन और पुराण मध्य-पदलोपी समास के न होने में पुराण पद के सामर्थ्य का अभाव है। सो क्या सामर्थ्य दर्शन के अभाव में मध्यम पद लोपी समास नहीं होता ? या तदर्थ को भी आपके मत से सूत्र नहीं देखेगा ? यदि अर्थ दर्शना-ऽभाव में समास नहीं होता तो बन्धायाः पुत्रः बन्धा पुत्रः यहाँ समास नहीं हो सकेगा क्योंकि बन्धा के पुत्र का सर्वथा दर्शनाभाव है।

अतः नवीनों से रचा हुआ पुराण नवीन पुराण यहाँ मध्यम पद लोपी समास भी सर्वथा संभव है।

यदि नवीन शब्द नवीनार्थ वाची और पुराण शब्द पुरातनार्थ वाची माना जाय तो इन विपरीतार्थक शब्दों का समास नहीं हो सकता, ऐसी शंका भी ठीक नहीं क्योंकि भविष्यत् और पुराण, विपरीतार्थ वाची होते हुये भी यदि भविष्यत्-पुराण यहां समास हो जाता है तो नवीन पुराण में भी समास क्यों नहीं हो सकेगा ?

तदत्रभवान् यदि बुद्ध्वाऽपि शङ्कते तदा छलं, यदि चाऽबुद्ध्वैव वदति तदा अप्रतिभानामक-निग्रहस्थाने निगडितः।

यच्चोक्तं "यदपिच·······यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद् रचित-मिति······।" इह वे० पा० जाते 'तत्पदेन परामृष्टस्य वेदस्य पुंलिङ्ग-त्वात्' तदिति नपुंसकलिङ्गत्वं नोचितमिति, तत्तु भवताम् अनूहनशीलतामेव सूचयति,यत्तोऽहि तत्र न तावद्वेदस्य पूर्वपरामर्शः, अपि तु वेदपुस्तकस्य। यद्वा यो मन्त्र सूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमित्यत्र तद् इत्यनेन मन्त्रसूक्तमेव (रचितमिति) स्पष्टं परामृश्यते। नात्र वेदशब्दस्य पूर्वमुल्लेखः अतस्तस्य परामर्शस्याऽनौचित्यमेव।

'भूमिकायाः' हिन्दी-भाषायां तु भावार्थत्वेन मन्त्रसूक्तात्मकस्यैव वेदशब्दस्य प्रयोगः इति वेद्यम्,। संस्कृते तु मन्त्रश्च सूक्तञ्चेति मन्त्र-सूक्तमिति सामान्ये नपुंसकं, तद् रचितम् इति सम्बन्धः। तदेवं भगवन्, तद् इत्यनेन वेदपुस्तकस्य मन्त्रसूक्तात्मकस्य वस्तुनो वा पूर्व-परामर्शकत्वेन तद् इति प्रयोगः साधुः।

अच्छा तो इनका विपरीतार्थक होने पर सामानाधिकरण्य न होने से समास नहीं होना चाहिये, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि पुराण शब्द यहाँ ग्रन्थ अर्थ में रूढ़ है और नवीन शब्द उसका विशेषण है। महर्षि दयानन्द की दृष्टि में पुराण शब्द का वास्तविक तात्पर्य ब्राह्मण ग्रन्थों से है, ब्रह्म वैवर्त्तादि पुराणों से नहीं, वे इनको ऐतिह्य कोटि का नहीं मानते। वे इनको नवीन पुराण मानते हैं। तब फिर नवीन शब्द विशेषण तथा पुराण शब्द विशेष्य होने से, कैसा पुराण नवीन पुराण, ब्रह्मवैवर्त्तादि, न तु ब्राह्मणादि। अतः नवीन शब्द ब्राह्मणादि का व्यावर्त्तक होने से सामानाधिकरण्य होने में यहाँ बुद्धिमानों को शङ्का का कोई स्थान नहीं।

आप जो यहाँ 'नवीन पुराण' में द्वन्द्व समास मानते हो, सो यह 'एक अर्थ में' इससे द्वन्द्व समास का विपरीतत्व कहा गया है। इस कैयट की उक्ति के होने से, व्याकरण विरुद्ध है।

इस प्रकार यदि आप यहाँ जानबूझ कर ऐसी शङ्का कर रहे हो यह आपका छल है और यदि न समझ कर समास न हो सकने की बात कर रहे हो तो अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान में फंस जाते हो।

यदपि चोक्तं 'यदृषीणामुत्पत्तिरपि नासीत्' इति वचनमपि स्वाभ्युपगम-विरुद्धम्' इति, तत्तु भवदभ्युपगमस्यैव न्यूनता, यतो हि इह ऋषीणामिति शब्देन मरीच्यादीनामुत्पत्तेरभिप्रायः। एषामृषीणाम् अग्निवायुरविभ्यो वेदज्ञानदान-समये उत्पत्तिर्नैवासीत् इति सत्यमेव, तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदाः अवर्त्तन्त। अतो नाऽत्र स्वकथनविरोधः अपितु भवत एव बुद्धिविरोधः, वेदग्रहीतॄणाम् अग्न्यादीनां चतुर्णा मृषीणां मरीच्यादिभ्यो मन्त्रदृग्भ्यो भिन्नत्वात्।

यच्चोक्तं "यो वै ब्रह्माणम् इत्यत्र तु वै इति कपोल-कल्पितमिति" अत्र वयमेतावदेव ब्रूमो यत् स्वदृकतालमनालोच्य, अन्यदृक्ताल कल्पनेति उक्तिमनुसरन् भवान् वे. पा. ४०२ तमे पृष्ठे ९ म पङ्क्तौ

और आपने यह जो कहा कि यो मन्त्र-सूक्तानां···स्थल में 'तद्रचितम्' शब्द में तत् शब्द से वेद का परामर्श है और वह नपुंसक लिङ्ग नहीं, अतः 'तत्' नपुंसक शब्द का प्रयोग अशुद्ध है, सो यह भी आपकी कल्पना-शक्ति की न्यूनता है। क्योंकि यहाँ 'तत्, से वेदों का पूर्व परामर्श नहीं, अपितु वेद पुस्तक का परामर्श है। वह नपुंसक लिंग है उसके लिये तत् का प्रयोग ही समुचित है।

अथवा यह 'मन्त्र सूक्त' नपुंसक लिंग है, उसका परामर्शक तत् शब्द है अतः तद्रचितम् में नपुंसकत्व की शंका व्यर्थ है।

अच्छा तो यहाँ यदि मन्त्र सूक्त का परामर्शक तत् शब्द है, तो फिर स्वामी जी ने हिन्दी में 'वेदों की रचना की' यह क्यों कहा? सो यहाँ वेद शब्द भावार्थ रूप में मन्त्र सूक्त समूह के लिए है, ऐसा जानना चाहिये।

इसलिये इस प्रकार 'तत्' शब्द वेद पुस्तक या मन्त्र सूक्त समूह का पूर्व परामर्शक होने से नपुंसक लिंग होने पर कोई दोष नहीं है।

और जो आपने कहा कि "वेदोत्पत्ति के समय ऋषियों की उत्पत्ति भी नहीं थी, यह कथन स्वामी जी के अपने ही कथन के विरुद्ध है।" सो यह आपकी समझ की न्यूनता है, क्योंकि वहाँ ऋषियों से तात्पर्य मरीच्यादि ऋषियों से है। अग्नि आदि ऋषियों को जब वेद-ज्ञान दिया, उस समय इन मरीच्यादिकों की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी, उस समय ब्रह्मादि के समीप वेद वर्त्तमान थे, यह आशय है।

अतः यहां स्वकथन का विरोध नहीं, अपितु आपका ही बुद्धि विरोध है क्योंकि ऋषि का तात्पर्य मरीच्यादि पिछले ऋषियों से है।

स्वपाठमुपेक्षते यथा च "यो वै ब्रह्माणम्" इति। ऋषिसम्मतपाठ-स्त्वन्वेषणीयोऽन्यत्राऽपि यथा :—गायत्र्युपनिषदि वै इति पठितम्, तदपि 'श्वेताश्वतरोपनिषदादि' इत्यत्र पठितेन आदिपदेन ग्राह्यम्। अपि च गीतामुद्रणालयात् प्रकाशितायामुपनिषदि 'वै' इति पाठः हरिकृष्णकृतव्याख्यायामस्ति। वस्तुतोऽत्र अन्तिमे चरणे 'वै' न स्यात्, सर्वत्र एकादशवर्णत्वात्, हरिदासेन च चतुर्थे चरणेऽव्याख्यातत्वाच्च।

यच्चाप्युक्तं मनुसाक्ष्यत्वादिति' महर्षिवाक्ये 'साक्ष्यत्वादिति त्वल् प्रयोगानर्थक्यम्' इति, तत्तु न जाने कोऽत्र वज्रपातः त्वप्रत्यये, यतो हि साक्ष्यं प्रमाणम् तस्य भावः साक्ष्यत्वं प्रमाणत्वम् तस्मात् प्रमाण-त्वादिति भावः। यदि तावत् अपाणिनीय-त्वल्प्रत्यये कृते न कोऽपि

यह जो कहा है कि "यो वै ब्रह्माणम्' यहाँ पर 'वै' पाठ स्वामी दयानन्द का कपोल कल्पित है।" सो इसका उत्तर यह है कि आपने अपनी आंख के शहतीर को भी न देखते हुये वे० पा० के पृ० ४०२ की नवम पंङ्क्ति में लिखे अपने पाठ की उपेक्षा ही कर दी। जैसा कि 'यो वै ब्रह्माणमिति है। फिर भी यह ऋषि पाठ अन्वेषणीय है, गायत्री उपनिषद् में तो यह वै' पाठ अवश्य पढ़ा गया है। वह भी 'श्वेताश्वत'रोपनिषदादि' शब्द में आदि शब्द से ग्रहण करने योग्य है। दूसरी बात यह भी है कि गीतामुद्रणालय से प्रकाशित उपनिषद् में हरिकृष्णकृत व्याख्या में 'वै' यह पाठ अवश्य है। पर रहस्य यह है कि अन्तिम चरण में 'वै' न पढ़ा जावे तो सभी चरणों में ११ वर्ण हो जावें। हरिदास जी ने सम्भवतः इसी विचार से ही चतुर्थ चरण में 'वै' की व्याख्या नहीं की।

यह जो कहा है कि 'मनुसाक्ष्यत्वात्' इस महर्षिवाक्य में 'साक्ष्यत्वात्' शब्द में त्वप्रयोग अनर्थक है। सो यहाँ त्व प्रत्यय के करने में न जाने क्या वज्रपात हो गया? क्योंकि साक्ष्यं प्रमाणं उसका भाव सांक्ष्यत्व अर्थात् प्रमाणत्व उसके कारण से यह सीधा ऋषि का त्व प्रयोग सार्थक है। साक्ष्य शब्द से त्व प्रत्यय करने में कोई आपत्ति नहीं और न कोई प्रयोग की अनर्थकता ही है, क्योंकि प्रमाणत्व के भाव को दर्शाने के लिए साक्ष्यत्व' प्रयोग आवश्यक है। यहाँ आपका त्वल् प्रत्यय सर्वथा अपाणिनीय है।

वज्रपातस्तदा साक्ष्यत्वप्रयोगेऽपि न कोऽपि वज्रपातः। नाऽपि प्रयोगानर्थ्यम् प्रमाणत्वार्थे तस्य आवश्यकत्वात्।

अथापि भावे ष्यञ्प्रत्ययान्तात् साक्ष्य-शब्दात् व्याकरणदृशा पुनर्भावे त्व-प्रत्ययस्यानुपपत्तिरिति चेत्तदपि व्याकरणानभिज्ञत्वमेव करपात्रिणः, तथाहि :—नाऽत्रभावे पूर्वं ष्यञ्प्रत्ययः अपितु गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि चेति (अष्टा. ५।१।१२४) सूत्रेण साक्षिशब्दात् कर्मणि ष्यञिकृते साक्ष्यमिति रूपं, ततश्च साक्ष्य शब्दात् तस्य भावस्त्वतलौ (अष्टा. ५।१।११९) इति सूत्रेण त्वप्रत्यये कृते, 'साक्ष्यत्वे' न कश्चिद्दोषः। अथवा साक्षि-शब्दात् दिगादिभ्योयत् (अष्टा० ४-३-५४) इति साधुत्वेऽर्थे यति प्रत्यये कृते साक्ष्यमिति सिद्धे पश्चात् भावे त्व प्रत्यये कृते साक्ष्यत्वादिति व्याकरण-सिद्ध-प्रयोगे यदा कश्चित् प्रयोगानर्थ्यमिति कथयति तदा इयमेव निर्मलोक्तिः स्मृतिमायाति :—

'कल्पद्रुमं ह्यपि च बव्वुलमाच्छिनत्ति,
तीक्ष्णैस्तु लोह-दशनैः करपत्रमाशु।

यदि आपकी यह शंका हो कि साक्ष्य शब्द में भाव में ष्यञ् प्रत्यय है। फिर उससे त्व भाव प्रत्यय नहीं हो सकता, सो यह अनभिज्ञत्व ही है। देखिये :—'साक्ष्य' शब्द में पहले भाव में ष्यञ् प्रत्यय नहीं है अपितु 'गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः' (अष्टा. ५।१।१२४) इस सूत्र से कर्म में ष्यञ् प्रत्यय होने से साक्षिन से 'साक्ष्य' बना फिर साक्ष्य से भाव में 'तस्य भावः (५।१।११९) सूत्र से त्व होने से 'साक्ष्यत्व बनने में कोई बाधा नहीं।

अथवा साक्षिन् शब्द से दिगादिभ्यो यत् (अष्टाः ४।३।५४) सूत्र से साधु अर्थ में यत् प्रत्यय करने पर साक्ष्य बना फिर 'तस्यभावः······से त्व प्रत्यय होने में भी कोई बाधा नहीं।

इस प्रकार बुद्धिसंगत युक्तियुक्त व्याकरण सिद्ध प्रयोग को भी प्रयोगानर्थक जब कोई कहता है तो यह निर्मलोक्ति स्मरण आ जाती है। "कल्पद्रुममित्यादि" अर्थात् आरा अपने लोहे के तीक्ष्ण दान्तों से बबूल और कल्पवृक्ष दोनों को ही काट देता है उसको इन दोनों के अन्तर का कोई विवेक नहीं, इसी प्रकार यह लेखक भी अपनी कुतर्क कल्पनाओं के तीक्ष्णवाणों से युक्तियुक्त बुद्धिसंगत व्याकरण समर्थित बात को भी काट रहा है।

तद्वत् कुतर्क परिकल्पन-तीक्ष्ण-वाणैः,
धीसङ्गतं त्वपि निकृन्तति लेखकोऽयम्॥

तदेवं महावैय्याकरणस्य दयानन्दस्य महर्षेः व्यर्थ-त्रुटि-प्रदर्शनं कुर्वाणः सनातनी साधुर्न शोभते। किञ्च तेन एतेनैव वैदुष्येण वेदार्थ-पारिजातस्य रचना कृतेति महदाश्चर्यम्।

वे० पा० ५०५ तमे पृष्ठे कीदृशो विचित्रोऽयं तर्कः यत् "तेभ्योऽग्न्यादिभ्यो वेदोत्पत्तौ मन्यमानायाम् अन्येभ्योऽपि सूक्तदृभ्यः ऋषिभ्यः कथं न वेदोत्पत्तिर्मन्येत ?" इत्यभिप्रायकः "तेभ्यः तदुत्पत्तौ ऋषिभ्योऽपि कुतो न तदुत्पत्तिरिति" पाठः।

भगवन्, अस्य पाठस्य त्वयमाशयो यत् यः कोऽपि किमपि पुस्तकं पठेत् तस्य पुस्तकस्य व्याख्याविशेषं प्रकाशनं वा कुर्यात्तदा, स एव तस्य पुस्तकस्य रचयिता मन्येत ? भो विद्वन्, मैवं वादीः, यतोहि यैः मन्त्रदर्शिभिः ऋषिभिः वेदाध्ययनं कृतं, ते स्वप्राक्तनवेदान् कथं रचयितुं प्रभवन्ति ?

अपि च भवान् कथयति यद्-'अग्न्यादयोऽपि यदि मनुष्याः, तर्हि तेऽपि कुतो न ब्रह्मणः अर्वाचीनाः तज्जन्याश्च (ब्रह्मणउत्पन्नाश्चेति यावत्,) इति।

इस प्रकार महा वैय्याकरण ऋषि दयानन्द की व्यर्थ त्रुटि-प्रदर्शित करना एक सनातनी साधु को शोभा नहीं देता। क्या इसी वैदुष्य पर वेदार्थ-पारिजात की रचना की गई है ? महद् आश्चर्य है।

वे. पा. के ५०५ पृष्ठ पर आपका क्या ही विचित्र तर्क है कि उन अग्न्यादिकों से वेदों की उत्पत्ति मानने पर अन्य सूक्तदर्शी ऋषियों से भी क्यों न वेदोत्पत्ति मान ली जाय।

सो जिस प्रकार पुस्तक के पढ़ने वाले या उसका व्याख्यान करने वाले को पुस्तक रचयिता नहीं माना जाता, इसी प्रकार सूक्तदर्शी अन्य ऋषियों को भी वेदों का रचयिता नहीं माना जा सकता। सूक्तदर्शी ऋषि वेदोत्पत्ति से परवर्ती होने से पूर्ववर्त्ती वेदों के रचयिता नहीं हो सकते, क्योंकि पीछे उत्पन्न हुई वस्तु अपने से पूर्ववर्त्ती वस्तु की कभी उत्पादक नहीं होती, और न केवल एक समान धर्म मात्र से वह वस्तु पूर्ववर्त्ती या परवर्ती वस्तु नहीं हो सकती इसलिये करपात्री जी का यह कहना भी कि अग्न्यादि ऋषि भी मनुष्यदेह-

किं भो महाभाग,भवानेव विचारयतु यत् किं मनुष्य-शरीरधारिमात्रतया, कथं ते ब्रह्मणः परवर्तिनः भवितुमर्हन्ति ? किं वा ते मनुष्यशरीरधर्मितयैव ब्रह्मणोऽपत्यानि भवितुमर्हन्ति ? कदापि नैव। यदि ब्रह्मणः पूर्वं कोऽपि अग्न्यादि-मनुष्यो नाभविष्यत्, तर्हि तु ते मनुष्याः ऋषयो वा ब्रह्मणोऽपत्यानि 'भवितुमर्हन्ति परकालवर्तित्वात्, अन्यथा तु नैव।

किञ्च भो भवन्मते ब्रह्मा यश्चतुर्वेद्वित् किन्नासौ मनुष्य शरीरधारी जीवः ? अथ चेन्न, किंविधः ? किंपरिमाणश्च ? अपि च किं देवादिकोटयः मनुष्यशरीरेष्वेव न वसन्ति ? वसन्त्येव, नो चेत्, 'देवो भूत्वा देवान् यजेय, इत्यादि स्थलं कथं सङ्गस्यते ?

किञ्च :—देवा न मनुष्याः इत्युक्तिस्तु अविचारितैव।

देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः।

पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थः शेषभुग्भवेत्॥ (म० ३।११७)

किमत्र मनुष्यातिरिक्ताः विशिष्टदेहाः ऋषयो देवा वा अभीष्टा भवतः ? कदापि नैव। केवलंज्ञानादि विशिष्टास्ते देवाः मनुष्याएव। यथा च-'विद्वांसोहि देवा' इति शतपथ-ब्राह्मणे प्रोक्तम्। अपि च,

---

धारी थे इसलिये वे ऐतिहासिक ब्रह्मा के पीछे उत्पन्न हुये या ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुये—ठीक नहीं। यदि ब्रह्मा की उत्पत्ति से पूर्व कोई भी न होता तो वे अग्न्यादि ऋषि ब्रह्मा की सन्तान माने जा सकते थे परन्तु ऐसा नहीं। ब्रह्मा से पूर्व अग्न्यादि ऋषि हो चुके थे, जिनके हृदयों में वेदों की प्रेरणा हुई। वे ब्रह्मा के पीछे उत्पन्न नहीं हो सकते और न ब्रह्मा की ही सन्तान हो सकते हैं।

क्या महाराज, आपके मत में चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा मनुष्य देहधारी जीव विशेष नहीं है ? यदि नहीं है ? तो किस आकार का और किस परिमाण का है ?

क्या देव इत्यादि कोटियां आपके विचार से मनुष्य शरीरों में ही नहीं वसती हैं ? यदि नहीं तो 'देवो भूत्वा देवान् यजेत' इत्यादि स्थलों की संगति कैसे लगेगी ? तथा च 'देव मनुष्य नहीं' यह उक्ति अविचारित हैं।

ब्रह्मादेवानां पदवी, कवीनामृषि विप्राणाम्। (ऋग् ९।९६।६)

अर्थात् "देवानां स्तोतृकारिणाम् ऋत्विजां ब्रह्मा, ब्रह्माख्य ऋत्विक्स्थानीयो भवति इति सायणभाष्येऽपिमनुष्य-शरीरधारिण एव देवा इति व्याख्यातम्।

किञ्च :—

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः। (मनु० १।२२)

अर्थात् स प्रभुः प्राणिनामिन्द्रादीनां कर्माणि आत्मा स्वभावो येषां तेषां देवानामुत्पत्तिमकरोत्, अतः कर्मात्मानः देवाः प्राणिरूपा एव।

तथा च :—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः

प्रजां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेवच॥ (मनु ४।९४)

इत्यत्र मनुना सन्ध्यां कुर्वताम् मानवानामृषित्वप्राप्तिः सूचिता, अतः ऋषयोऽपि मानवा एव।

अपि च :—

देवान्………इत्यादि मनु श्लोक के अनुसार देवो ऋषियों, मनुष्यों, पितरों तथा अन्य घर के देवताओं का पूजन करके (खिलाकर के) गृहस्थी भोजन करे। क्या आपको यहाँ भी देवता या ऋषि विशिष्ट देह वाले अभीष्ट हैं ? तो कदापि संगत नहीं, केवल ज्ञानादि विशिट मनुष्य ही देव होते हैं जैसा कि विद्वांसो हि देवा,' यह शतपथ ब्राह्मण में भी कहा है।

इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मा देवानां पदवी-इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्रभाष्य में, 'स्तुति करने वाले ऋत्विग्देवों में ऋत्विक्स्थानीय ब्रह्मा होता है" इस प्रकार (सामणभाष्य में) स्पष्ट रूप से मनुष्य शरीर धारी ऋत्विक्ब्रह्मा का ही वर्णन किया गया है; तथा च मनु १।२२ के 'कर्मात्मनां देवानां श्लोक के अनुसार उस प्रभु ने सृष्टि के आदि में कर्मशील प्राणिरूप देवताओं को उत्पन्न किया। अतः सिद्ध है कि देवता प्राणधारी ही होते हैं।

ऋषियों………इत्यादि मनु के श्लोक में ऋषियों को दीर्घ सन्ध्या करने से दीर्घायुवाला कहा है। इस प्रकार संध्या करने वाले मनुष्य ही ऋषि होते हैं। तथा च

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान् समेत्यूचुः न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् । (म० २।१५२)

अत्राऽपि मनुः शरीरधारिणां देवानामागमनं पितॄन् प्रति वचनं च अवर्णयत् । न जडदेवा आगन्तुं वक्तुञ्चार्हन्ति । अतो देवा अपि देहधारि-मनुष्यरूपा एव । विशिष्ट-ज्ञानादिकृतो भेद एव तेषाम् आसीत् मनुष्येभ्यः ।

यच्च भगवन् भवान् 'अग्निवायुरविभ्यस्तु' इत्यादि श्लोके दुह्धातोः प्रयोगेण, तत्स्थाने अधीति पठति इत्यादि-प्रयोगाऽभावेन च अग्न्यादयः देवा एव आसन् न मनुष्या इति यदभिव्यञ्जनामकरोत्, साऽपि निर्मूलैव, यतो हि ते देवाः यदि न चेतना मनुष्य-रूपाः, किं तर्हि जड़पाषाणदिरूपाः ? तदा तु तेषु ज्ञानस्य न सम्भवः, ज्ञानस्य चेतनाधारत्वात् ।

ननु जडेषु देवेषु तदधिष्ठातृ-चेतन-देवकल्पना करिष्यते इति चेत् तदपि न युक्तम्, अधिष्ठातृ-चेतनदेवस्य जड-पदार्थे कल्पनायाः चेतनधर्माणां मनुष्यरूपाणामेव देवानां कल्पनायाः गरीयत्वत्वात् ।

ते तमर्थमपृच्छन्त ······इत्यादि मनु के श्लोक में भी शरीर धारी देवों के आगमन और पितरों से उनकी बातचीत का वर्णन है। इसलिये भी निश्चय ही देवता ऋषि, पितर, साध्य आदि सब देहधारी विद्वान् पुरुष थे। वेद ज्ञानादिकृत उनकी विशिष्ट कोटियां थी. उनका कोई शरीरभेद नहीं था।

महोदय ! आपने 'अग्निवायुरविभ्यस्तु' इत्यादि श्लोकों में अधीति पठति आदि क्रियाओं के स्थान पर दुदोह में दोहनरूप क्रिया का प्रयोग करने से अग्न्यादि देव ही थे मनुष्य नहीं, यह व्यञ्जना की है वह निर्मूल और बुद्धय-संगत है। कृपया आप बताइये यदि वे देव चेतन मनुष्य रूप नहीं थे, तो क्या वे जडरूप थे ? और यदि जड़रूप थे की उनमें ज्ञान का होना असम्भव है, क्योंकि ज्ञान का आधार चेतन पदार्थ होता है, जड़ नहीं।

यहाँ पर आप इस जड़ रूप देवों में तदधिष्ठातृचेतनदेव की कल्पना करें तो वह भी ठीक नहीं, इसमें पहले देवों को जड़ माना जाय फिर उसमें चेतन अधिष्ठातृदेव की कल्पना की जाय इस नाक घुमाकर पकड़ने से अच्छा यही है कि देवों को चेतन धर्मो-मनुष्य रूप ही माना जाय।

वे० पा० पृ० ५०६ प्रसङ्गः । स्वामिदयानन्देन वेद-शब्दस्य निर्वचनं विदन्ति, विद्यन्ते, विन्दन्ति विन्दन्ते वा सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्याः यैः येषु वा ते वेदाः इति कृतमस्ति, तत्र करपात्रिण आक्षेप :—

"तदपि (निर्वचनं) निस्सारमशुद्धं च, येषु यैरिति पदाभ्याम् इतिहासपुराणादीनामपि ग्रहण-सम्भवेन तत्राऽपि वेदत्वापत्तेः" इति ।

(समाधानं) भगवन् ! ज्ञायते भवन्मुखे अशुद्धं निस्सारं निर्मूलं धाष्ट्र्यम् इत्यादि-शब्दाः परिपूर्णाः सन्ति नूनम् । ते च प्रतिखण्डनावसरं लालेव अनायासमास्रवन्ति । तदत्र एतदेव वक्तुमुचितं यत् त्वदीयं-वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' इति । अस्तु दृश्यतां तावत्:—

स्वामिदयानन्देन करणाधिकरणयोः वेद-शब्दस्य व्युत्पत्तिर्दर्शिताऽस्ति, परन्तु भवता येषु यैरिति विपर्ययेण उपन्यस्य वैकल्पिकोऽर्थः (अधिकरणरूपः) प्रधानीकृतः प्रधानश्च (करणरूपः) गौणीकृतः ।

वे० पा० पृ० ५०६ का प्रसङ्ग । स्वामी दयानन्द ने वेद शब्द का निर्वचन विदन्ति विद्यन्ते, विन्दन्ति विन्दन्ते वा····· यैः येषु वा' किया है अर्थात् जिनके द्वारा या जिनमें मनुष्य पढ़कर यथार्थ विद्याओं को जानते हैं; जिनको पढ़कर विद्वान होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है या जिनसे ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, वे वेद हैं। इस पर करपात्री जी का आक्षेप है कि यहाँ यैः और येषु इन दो पदों से निर्वचन करने से तन्त्र आगम इतिहास पुराणादि का भी ग्रहण किया जा सकता है, ऐसी दशा में वे भी वेद हो जायेंगे ? अतः उक्त निर्वचन निस्सार और अशुद्ध है।" (समाधान) ज्ञात होता है आपके मुख में अशुद्ध, निस्सार, निर्मूल और धाष्ट्र्य आदि शब्द भरे हुये हैं जो प्रतिखण्डनावसर पर चाहे वह युक्तियुक्त हों या न हों, टपक ही पड़ते हैं। अस्तु ! वे तुम्हारी वस्तुयें तुम्हें ही शोभामय बनें। देखिये, स्वामी जी ने प्रथम करण और फिर अधिकरण अर्थ में वेद शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई है, परन्तु करपात्री जी ने प्रथम येषु और फिर यैः से व्युत्पत्ति बताकर वैकल्पिक अर्थ को प्रधान और प्रधान अर्थ को गौणरूप से प्रस्तुत किया है।

यह जो कहना है कि 'वेद' शब्द के इस निर्वचन से इतिहास आदिको का भी वेदत्व हो जायेगा सो ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ ऋषि ने 'वेद' का लक्षण नहीं किया, अपितु वेद शब्द की व्युत्पत्ति या निर्वचन किया है।

ननु यच्चोक्तमिह यत् 'अनेन निर्वचनेन इतिहास-पुराणादीनामपि वेदता भविष्यति इति चेन्न, नेह वेदस्य लक्षणमुद्दिष्टमपितु वेदशब्दस्य व्युत्पत्तिरेव प्रदर्शिता । निर्वचनं व्युत्पत्तिर्वा न कदापि कस्यापि लक्षणं भवति । लक्षणे एव पूर्णार्थत्वं भवति न निर्वचने ।

अपि चैषैव व्युत्पत्तिरन्यैरपि विद्वद्भिः प्रदर्शिता अस्ति । तथाहि सायणाचार्यः—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।

एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥ इत्यादि । तथापि स्वामिदयानन्देन वेदमूलकेषु ब्राह्मणादिषु वेदत्वापत्तिनिवारणाय 'सर्वाः सत्यविद्याः' इति विशेषणमुपन्यस्तं तच्चभवता नाक्षिलक्षीकृतं, तेन न पुराणादिषु वेदत्वापत्तिः ।

वेदानां सर्व-सत्य-विद्यावत्वे भवतां काचित् शङ्का चेत्, श्रूयताम् । महर्षि-मनुना स्पष्टं प्रोक्तमस्ति यत् भूतं वर्त्तमानं भविष्यच्च यत्किञ्चिदस्ति तत्सर्वं वेदात् प्रसिद्धं भवति संसारे, तथा हि:—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ।

व्युत्पत्ति या निर्वचन कभी किसी का लक्षण नहीं होता । लक्षण में ही पूर्णार्थ-घटित होता है निर्वचन में नहीं ।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि अन्य विद्वानों ने भी ऐसी व्युत्पत्ति दिखाई है जैसे कि :—'एनं विदन्ति वेदेन' इत्यादि अर्थात् इसको वेद के द्वारा जानते हैं, यहां करण कारक में सायणाचार्य ने वेद शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई है ।

फिर भी स्वामी दयानन्द जी ने अपने 'वेद' के व्याख्यान में विन्दन्ति सर्वाः सत्य-विद्याः यैः कहकर सर्वसत्य विद्या' रूप विशेषण लगा दिया है जिससे वेदत्व में इतिहास और पुराणों की व्यावृत्ति (निवृत्ति) हो जाती है ।

यदि आपको वेदों के सर्वसत्य-विद्या युक्त होने में सन्देह हो, तो सुनिये-

महर्षि मनु ने स्पष्ट रूप से कहा है कि संसार में भूत, वर्तमान और भविष्य में जो कुछ भी है वह सब वेदों से ही प्रसिद्ध होता है जैसे कि :—

भूतं भव्यं भविष्यच्च, सर्वं वेदात् प्रसिध्यति । (मनु)

किञ्च वेदानां विविधविद्यावत्त्व-समर्थनं सायणाचार्योऽपि करोति तथाहि :—'चतुर्दश-विद्यास्थान-परिशीलनोपेतः पुरुषः वेदार्थ-रहस्यं जानाति' इति । यदि नाम वेदा विविधविद्यास्थानं नाभविष्यन्, तदध्येत्रे चतुर्दशविद्यापरिशीलनमावश्यकं नाऽभविष्यत् ।

अथापि पारौणिक-विपश्चितो मधुसूदन झा-श्री सत्यव्रत सामश्रमि-प्रभृतयोऽपि वेदेषु कला-कौशल-सूक्ष्म-विज्ञानादीनि सन्तीति समनुमोदन्ते ।

परं भवादृशो मम सम्मान-भाजनमपि श्री बलदेव उपाध्यायो महानुभावः सायणाचार्य-भूमिका-सम्पादन-प्रसङ्गे अलिखत् :—

"अपरं चामी वेदेषु नवीनानामपि आधुनिकैः पाश्चात्यविज्ञानवेदिभिः प्राकाश्यं नीतानाम् आविष्काराणां धूम्रयान, वायुयान, तडिच्छकट, स्वनग्रहादीनां नैव कल्पितां सम्भावनामपितु वास्तविकीं सत्तां वेदे मन्यन्ते । सर्वेषामाविष्कृतानामाविष्काराणां च विज्ञान-तत्त्वानामाकरो वेद एवेति तेषामभिमतं······ परन्तु एषोऽपि सिद्धान्तो नैव विद्वज्जन-मनोरमः" इति ।

भोः, येषां नैष सिद्धान्तो मनोरमः ते के विद्वांसः ? किं वेदेषु विविध-विद्याः अवीक्षमाणाः विद्वच्छब्द-संबोध्याः ते ? अहो भारतीया-

---

इसके अतिरिक्त इसका समर्थन आचार्य सायण ने भी किया है जैसे :—"चौदह विद्याओं के अध्ययन से युक्त व्यक्ति ही वेदार्थ के रहस्य को जान सकता है" यदि वेद विविध विद्याओं के स्थान (भण्डार) न होते तो उसके पढ़ने वालों के लिये चौदह विद्याओं का (परिशीलन) अध्ययन प्रथमतः आवश्यक न होता ।

पौराणिक विद्वान् श्री सत्यव्रत-सामश्रमी, मधु सूदन झा इत्यादि ने भी वेदों में कला-कौशल सूक्ष्म विज्ञान आदि के होने की बात कही है ।

लेकिन आप जैसे, मेरे सम्मान-भाजन श्री बलदेव जी उपाध्याय ने सायण भाष्य भूमिका के सम्पादन प्रसङ्ग में लिखा है :—वे (स्वामी दयानन्द जी) भी पाश्चात्य वैज्ञानिकों से आविष्कृत रेलगाड़ी विमान, विद्युद्यान आदि की रचना-कल्पना को वेदों में वास्तविक मानते हैं और वेदों को सब आविष्कारों के तत्त्वों का (आकर) भण्डार मानते हैं परन्तु यह सिद्धान्त विद्वानों को मनोरम नहीं है ।

नामुदरम्भरीणामेषां पौराणिकविदुषां वेदापमान-धारणा नाऽभविष्यत्तदा कथमपि सर्वगुरुः देशः वैदिकधर्मश्च ह्रासतां ना ऽभजिष्यताम्। चार्वाक-वाममार्ग-सदृश-सम्प्रदायानां वेदविरुद्धाः गोमेध-नरमेध, पशुबलीनां कुप्रथाः न प्राचलिष्यन्। परं स्वामी दयानन्दः वेदानां पुनः विज्ञान-दर्शिकां प्रतिष्ठामकरोत्।

किं बहुना, सूर्यचन्द्रादिग्रहण, पृथिव्याकर्षण-धारण-भ्रमण, सृष्टि-विज्ञान, जलादि-चिकित्सा-विज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणि-विज्ञान, राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति, जीवन-दर्शनादि-विविध-ज्ञान-विज्ञानानामाकरः वेद इति सत्यमेवेति प्रत्यपादयत्। ग्रन्थविस्तार-भिया नाऽत्र प्रपञ्च्यते।

इहैव स्थले भवता यच्चोक्तं 'येषु विद्वांसो भवन्ति' इति वाक्ये विषय-सप्तमी चेदधिकरण-कारके इति स्वीकृति-विरोधः इति। तदत्र कः खलु स्वीकृति-विरोध इति न प्राकाशयत्।

अरे जिनको ये सिद्धान्त मनोरम नहीं है वे कौन से विद्वान् है ? क्या वे ही हैं जो विविध-विद्याओं को वेदों में न देखते हुये भी विद्वान कहलाते हैं ?

दुःख का विषय है कि यदि इन पौराणिकों की वेदापमान की ऐसी धारणा न होती तो सब का गुरु भारत और वैदिक-धर्म ह्रास को प्राप्त न होते। चार्वाक और वाममार्गी-सदृश सम्प्रदायों की गोवध, नरवध, पशुबलि आदि की कुप्रथायें चालू न होतीं। लेकिन स्वामी दयानन्द ने वेदों की फिर से विज्ञान-दर्शक परमप्रतिष्ठा की।

अधिक क्या कहा जाय ?, सूर्यचन्द्रादिग्रहण पृथ्वी का आकर्षण, धारण, भ्रमण, सृष्टि विज्ञान जलादि चिकित्सा विज्ञान मनोविज्ञान, प्राणी-विज्ञान, जीवन दर्शन आदि अनेक ज्ञान-विज्ञानों का भण्डार वेद हैं। ग्रन्थ-विस्तार भय से यहां अधिक नहीं, लिखा जा रहा है। वे० पा० के इसी स्थल पर आपने यह जो कहा कि 'येषु विद्वांसो भवन्ति' सो इस वाक्य में च रहित पाठ अपने दिया है 'विद्वांसश्च भवन्ति' का अभिप्राय यह है कि वेदों को जानकर, विचार कर तथा लाभ उठाकर विद्वान् बनते हैं।

इसी वाक्य के विषय में आपने कहा है कि यदि यहाँ पर विषय में सप्तमी मानें तो इससे पहले आपने (स्वामी दयानन्द ने) अधिकरण में सप्तमी मानी है सो इससे स्वीकृति विरोध होगा।

वैयाकरणास्तावदस्य हिन्दो-कारस्य व्याकरण-ज्ञान-गाम्भीर्यं परीक्षन्ताम्:—स लिखति "यदि यहाँ पर विषय में सप्तमी मानें तो इसके पहले आपने तो अधिकरण में सप्तमी मानी है, उससे विरोध होगा।"

सोऽयं वराकः हिन्दीकारः विषये अधिकरणे चेति सप्तमीं लिखन् अधिकरणकारक-सप्तमीतः पृथक् विषय-सप्तमीं मन्यते। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेति त्रिधा[1] आधारोऽधिकरणं वेति च न जानाति। तदयं केवलं न्यायाचार्यो न व्याकरणाचार्य इति प्रतीयते। प्रसङ्ग-प्राप्ता कस्यचिद् व्याकरणानभिज्ञस्य नैयायिकस्य काचित्कथाऽत्र प्रस्तूयते, तथा हिः—एकः वैयाकरणः नैयायिकस्य किमप्यशुद्ध-वाक्यं श्रुत्वा प्राह, भो नैयायिक ! भवान् अशुद्धं वाक्यं वदति।

नैयायिकःप्रत्यवदत्—अस्माकूणां नैयायिकेषां अर्थरि तात्पर्यं न शब्दरि।

तदा वैयाकरणः अकथयत्—इदमपि ते अशुद्धं वाक्यम्। शुद्धं तु यथा अस्माकं नैयायिकानाम् अर्थे तात्पर्यं न तु शब्दे। पुनरस्माकूणामिति कथमिति वद।

---

१. एतच्च संहितायामिति सूत्र भाष्ये स्पष्टम्।

व्याकरण के विद्वान् लोग वे० पा० के हिन्दीकार के व्याकरण-ज्ञान की परीक्षा करें उसने लिखा है :—यदि यहाँ विषय में सप्तमी मानें तो उसके पहले आपने जो अधिकरण में सप्तमी मानी है उससे विरोध होगा" सो यह बेचारा हिन्दीकार आधार (अधिकरण) के औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक इन[1] भेदों को न जानकर विषय सप्तमी और अधिकरण-सप्तमी को समानान्तर दो भिन्न वस्तुएँ समझ रहा है और उनको विरोधी मान रहा है। जबकि विषय-सप्तमी तो अधिकरण-सप्तमी का ही भेद है।

इससे ज्ञात होता है वह केवल न्यायाचार्य ही है व्याकरणाचार्य नहीं। इस प्रसङ्ग में व्याकरण ज्ञानरहित किसी नैयायिक की कहानी प्रस्तुत है :—

एक बार एक वैयाकरण ने नैयायिक के किसी अशुद्ध वाक्य को सुनकर कहा ओ नैयायिक, तुम वाक्य अशुद्ध बोलते हो। तब नैयायिक ने कहा 'अस्माकूणां नैयायिकेषां अर्थरि तात्पर्यं न शब्दरि'

नैया०—यथा-इक्ष्वाकूणां तथा ऽस्माकूणाम्।

वैया०—अस्तु तर्हि नैयायिकेषामिति कथम् ?

नैया०—यथा सर्वेषामिति।

वैया०—कथं तर्हि अर्थरि शब्दरि इति ?

नैया०—यथा कर्त्तरि यथा च पितरि इति।

वैया०—(पुनरपि न्यायाचार्यस्य तस्य परीक्षां कर्त्तुमिच्छन्) अस्तु तर्हि 'भ्मोऽन्त' इति सूत्रस्य कोऽर्थः ?

नैया०—भ्मोऽन्त इत्यस्य कोऽर्थः स्यात्, भ्मोऽन्त इत्येव चेष्यते। यद्यभ्मोऽन्तोऽपि भ्मोन्तः स्याद्, घटः किं न पटायते ॥ तदेवं वे० पारिजातस्य हिन्दीकारोऽपि वैयाकरणखसूचिः वैयाकरणायते। यदा च वैषयिकी सप्तमी अपि अधिकरणसप्तम्येव तदा को विरोध इति तु

तब वैयाकरण बोला—तुम्हारा यह वाक्य भी अशुद्ध है शुद्ध वाक्य तो इस प्रकार होगा—'अस्माकं नैयायिकानामर्थे तात्पर्यं न तु शब्दे' अर्थात् हम नैयायिकों का तो अर्थ से मतलब होता है शब्द से नहीं। अच्छा तो तुम्हारा अस्माकूणां प्रयोग कैसे बना ?

नैया०—जैसे 'इक्ष्वाकूणां' बनता है वैसे ही अस्माकूणाम्।

वैया०—अच्छा तो नैयायिकेषां' कैसे बना ?

नैया०—जैसे सर्वेषां'। वैया० अच्छा तो अर्थरि और शब्दरि शब्द कैसे बने ?

नैया०—जैसे कर्त्तरि और पितरि बने।

वैयाकरण ने उस नैयायिक की एक बार और परीक्षा लेनी चाही और पूछा—अच्छा तो भ्मोऽन्तः इस सूत्र का क्या अर्थ है ? नैयायिक बोला—भ्मोऽन्त इत्यस्य कोऽर्थः स्यादित्यादि अर्थात् भ्मोऽन्तः का क्या अर्थहोगा ? भ्मोन्त अर्थ का भ्मोन्त ही है। यदि अभ्मोन्त भ्मोन्त हो जावे तो घड़ा कपड़ा क्यों नहीं हो सकता ?

यहाँ न्यायाचार्य हिन्दीकार महोदय व्याकरणाचार्य होने जा रहे हैं। अस्माकूणाँ की तरह विषय-सप्तमी और अधिकरण सप्तमी का विरोध ठीक बता रहे हैं। इनमें क्या विरोध है ? यह तो वेही जानें। इस प्रकार तो महाराजजी,

स एव जानातु। किञ्च नैवं शैवालजालावलम्बनमगाध-ज्ञान-सलिले ब्रुडन्तं त्रातुमर्हं भवन्तमित्यलं विस्तरेण।

वे० पा० ५०६ तमे पृष्ठे यदप्युक्तं "किञ्च त्वद्रीत्या वेदा अपि ज्ञानरूपाः, ज्ञान च प्रमारूपमेव वक्तव्यम्, ओमिति चेत् प्रमारूपाणां वेदानां कथं सत्यविद्या-जनकत्वम् ? एकत्र प्रमा-प्रमाणत्व-विरोधात्। सत्यविद्याश्च प्रमारूपाः वक्तव्याः, तथा चोभयप्रमाणं च वैलक्षण्यमपि वक्तव्यम्, अत्यन्तसालक्षण्ये साध्य-साधन-भावाऽनुपपत्तेः। ज्ञानरूपाणां वेदानां किमधिकरणं ? परमेश्वरो वाऽन्यो वा ? नान्त्यस्तस्यैव सर्वविद्यावत्त्व-प्रसङ्गात्। परमेश्वर एव चेत्तदाऽपि सत्यविद्यायाः किमधिकरणम् ? ज्ञानं, वेदाः वा ? आद्ये वेदेष्वित्युक्ति-विरोधात् वेदेषु चेत्तदपि नोपपद्यते, ज्ञानस्य ज्ञानान्तराधिकरणत्वे माना ऽभावात्।"

भगवन्, तदेतत्कथनं अज्ञ-जन-मनोरममेव, हेत्वाभासबाहुल्यात्। किञ्च एष आक्षेपः, आनुपूर्वीविशिष्टशब्दराशिरूपेऽपि वेदे भवन्मतेऽपि, समान एव।

सेवाल जाल पकड़ने वाले को अगाध अज्ञान सलिल में डूबने से बचाया नहीं जा सकता। इसलिए इस विषय में अधिक विस्तार अपेक्षित नहीं।

वे. पा. के. ५०६ पृष्ठ पर यह जो आपने कहा "तुम्हारी रीति से वेद भी ज्ञान रूप हैं, ज्ञान तो प्रमा रूप ही होता है यदि आप इस बात को मानते हैं, तो प्रमा रूप वेदों को सत्यविद्याओं का प्रदाता कैसे मानोगे ? क्योंकि प्रमा और प्रमाणत्व दोनों एक जगह नहीं रह सकते।

सत्य-विद्या भी प्रमा रूप ही मानी जाएगी, इस परिस्थिति में वेदरूप प्रमा और सत्य-विद्या रूप प्रमा में क्या वैलक्षण्य है ? यह आपको बताना होगा। अत्यन्त सदृश वस्तुओं में साध्य साधन भाव नहीं बनता। ज्ञानरूप वेदों का अधिकरण परमेश्वर है या कोई दूसरा ? दूसरा कोई हो नहीं सकता, क्योंकि इस अवस्था में उसी को सब विद्याओं से युक्त मानना पड़ेगा, और यदि परमेश्वर को ही मानें तो सत्य-विद्याओं का अधिकरण कौन होगा ? ज्ञान अथवा वेद ? पहले पक्ष में वेदेषु इस उक्ति का विरोध होगा, और यदि वेदों में अधिकरणता मानी जाय, तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि एक ज्ञान के दूसरे ज्ञान के अधिकरण में कोई प्रमाण नहीं।"

यदा भवन्मते शाब्दी प्रमा भविष्यति सैव च वेदः, तदा किमन्यत्प्रमाणं प्रमा-भिन्नं स्यात् ? प्रमा-प्रमाणयोश्चावश्यं भिद्यमानत्वात्।

यदि तावदर्थज्ञानं प्रमाणं तदा किं शब्दाद्भिन्नोऽर्थः उताऽभिन्नः ? अभिन्नत्वे स एव दोषः। भिन्नत्वस्य चाऽसम्भवः, शब्दात् पृथग् अनाश्रयणादर्थस्य। तदेवं भवान् मतानुज्ञा-नाम-निग्रह-स्थानमायातः।

अस्मत्पक्षे चेदं समाधानं, परमेश्वर द्वारा सर्गादौ-ज्ञानदान-प्रक्रियायां सत्यां सङ्गतमेव। तच्च केवलदोषोद्भावन-निपुणेन भवता ग्राह्यं, तद्धि ईश्वर-ज्ञानं प्रमेयत्वेऽपि अप्रमेयम्, सर्गादौ अग्न्यादीनां निर्मलान्तः-करणेषु स्वतःसम्भवात् तदनु तज्ज्ञानं प्रमाणं, तस्य स्वतःप्रामाण्यात्।

वस्तुतस्तु सर्गादौ प्रमाणमपि प्रमैवासीत्। सम्प्रति तु न तथा व्यवहारे प्रत्यक्षाऽग्रहणे शब्द-प्रमाणेन ग्राह्यत्वात्। ननु वेदाः ज्ञानं, प्रमा चाऽपि

महाराज, यह सब आपका कथन अज्ञ मनुष्यों को ही सुन्दर लग सकता है क्योंकि इसमें बहुत से हेत्वाभास हैं।

दूसरी बात यह भी है कि आनुपूर्वी-विशिष्ट शब्द-राशि को 'वेद, मानने वाले आपके मत में भी उक्त आक्षेप समान (सम्भव) ही है, क्योंकि जब आपकी शाब्दी प्रमा होगी और वही प्रमा वेद है तो इस प्रमा से भिन्न प्रमाण आपके पास क्या होगा ? पर होना चाहिए, क्योंकि प्रमा और प्रमाण भिन्न अवश्य होते हैं, वे आपके कथनानुसार एक नहीं हो सकते।

यदि आप यह कहें कि अर्थज्ञान को शाब्दी प्रमा में मान लेंगे, तो फिर बताइये यह अर्थ शब्द से भिन्न है या अभिन्न, अभिन्न होने पर वही दोष बना रहा और भिन्नता सम्भव नहीं, क्योंकि शब्द से पृथक् अर्थ कहीं अन्यत्र रह नहीं सकता। इस प्रकार महाराज आप मता-नुज्ञा नामक निग्रह स्थान में आ फँसे।

हमारे पक्ष में आदि सृष्टि में ज्ञान-दान-प्रक्रिया मानने पर समाधान संगत है, और यह समाधान दोषोद्भावन में निपुण आपको भी (मानना) ग्रहण करना चाहिए कि ईश्वर-ज्ञान प्रमेय-कोटि में आते हुए भी अप्रमेय है क्योंकि सर्ग के आदि में अग्न्यादि ऋषियों के अन्तः करण की निर्मलता की स्थिति में स्वतः संभूत हो गया था। इसके बाद वही स्वतः संभूत ज्ञान ही स्वतःप्रमाण होने के कारण प्रमाण बन गया।

ज्ञानं, तदा प्रमा प्रमाणयोरेकत्वापत्तिरेव इति चेन्न, तत्र वेद-ज्ञानं प्रमा, अग्न्यादीनामन्तःकरणनिर्मलधारावृत्तिश्च प्रमाणं, ब्रह्मज्ञानं च फलं। प्रमाणस्य फलस्य चापि प्रमाणरूपत्वमपि क्वचिद् भवति। ज्ञान-व्यापारे भेदकथनं तु जीवात्मनः वेद-संक्रमणे ज्ञेये ज्ञाते च भेद-बुद्धेरनुपस्थानात् न सम्भाव्यते।

वस्तुतस्तु यथार्थानुभवः प्रमा तस्याश्च कारणं प्रमाणं, प्रमायाः करणानि च प्रमातृ-प्रमेयादीनि बहूनि तथापि इन्द्रियसंयोगादिरेव प्रमाकरणमुच्यते अतिशयितत्वात्। प्रत्यक्ष-विषयकोऽयं हि पक्षः लौकिक-सन्निकर्ष एव भवति। तत्र वेदाः प्रमाणमिति मत्वा कश्चिदपि प्रवर्तितुं शक्नोति, यश्च यथार्थानुभवो जायते स प्रमा, एतत्प्रमायाः फलं तु सत्यविद्या-जनक-ज्ञानं वेद एव।

यथा कश्चित् काष्ठं छेत्तुं प्रवर्त्तते, तत्र छेदनरूप-क्रियायाः करणं परशुः, कुठार-काष्ठसंयोगो व्यापारः, तस्य परशोः फलमपि छेदनमेव। तच्च छेदनं साधन-भूतात् परशोः भिन्नं, परन्तु तत्साधनं काष्ठ-सह-कृतमेव।

वास्तव में तो सर्ग के आदि में प्रमाण भी प्रमा रूप ही था। उस समय उसमें कोई भेद नहीं था। परन्तु इस समय व्यवहार में प्रत्यक्षतः ग्रहण न होने से बाह्य शब्द-प्रमाण से ही ग्राह्य होगा।

अच्छा तो वेद भी ज्ञान, प्रमा भी ज्ञान, तब तो प्रमा और प्रमाण की एकता हो गई, सो ऐसा नहीं समझना चाहिए; क्यों कि वहाँ वेद ज्ञान प्रमा है और अन्तः करण की निर्मल धारावृत्ति प्रमाण है और फल ब्रह्म-ज्ञान है। कहीं २ प्रमाण और फल भी प्रमा रूप हो सकते हैं। ज्ञान-व्यापार मे उस समय जीवात्मा का भेद कथन संभव नहीं, क्योंकि वेद-संक्रमण के समय ज्ञेय और ज्ञाता की भेद-बुद्धि उपस्थित नहीं होती।

वास्तव में यथार्थ-अनुभव प्रमा है उस प्रमा का असाधारण कारण ही प्रमाण है इस प्रमा के करण प्रमाता प्रमेय आदि बहुत हैं तब भी इन्द्रियसंयोग आदि ही अतिशयित होने के कारण प्रमा के करण कहे जाते हैं और यह पक्ष प्रत्यक्ष-विषयक लौकिक-सन्निकर्ष में ही होता है।

वहाँ तो वेदों को प्रमाण मानकर कोई भी प्रवृत्त हो सकता है जो यथार्थ अनुभव होता है वही प्रमा है इस प्रमा का फल सत्य विद्याओं का जनक-ज्ञान वेद ही है।

यच्चाप्युक्तं 'वेदाः ज्ञानं तच्च प्रमारूपं पुनः कथं वेदानां प्रमाणत्वं ? अत्रोच्यते:—

वात्स्यायनभाष्यमते हि, आत्मा तावदुपलब्धि-विषयत्वात् प्रमेये परिपठितः, उपलब्धौ स्वातन्त्र्यात् कर्त्ता, बुद्धिरेका उपलब्धिसाधनत्वात् प्रमाणम् उपलब्धि-विषयात्तु प्रमेयम् उभयाऽभावात्तु प्रमितिरिति प्रोक्तम्।

एवममिहापि अवगन्तव्यं यत् अन्यतत्त्वविनिश्चयाय वेदाः प्रमाणं जीवात्मना अध्येतव्यत्वेन प्रमेयं, प्रमाणत्वप्रमेयत्वाऽभावे प्रमारूपमिति।

यच्चोक्तः— "प्रमात्व-प्रमाणत्व-विरोधादिति" तत्तु शब्दविशिष्टार्थ-ज्ञानानुशीलनाऽभावादेव। विरोधशब्द-प्रयोगश्चात्र चिन्त्यः, विरोधे सति तु प्रमायाःकरणं साधनमिति नोपपद्यते।

जैसे कोई लकड़ी को काटने को प्रवृत्त होवे तो वहां छेदन क्रिया का करण कुल्हाडी है कुल्हाड़ी और लकड़ी का संयोग ही व्यापार है और उस कुल्हाड़ी का फल भी छेदन ही है और वह छेदन, साधनभूत कुल्हाड़ी से भिन्न है परन्तु वास्तव में वह साधन, लकड़ी के साथ ही कार्यकृत् होता है।

यह जो कहा कि वेद ज्ञान है और ज्ञान प्रमारूप है फिर वेदों का प्रमाणत्व कैसे हो सकता है ? इस विषय में सुनिये, "न्यायदर्शन के वात्स्यायन भाष्य में कहा है कि आत्मा उपलब्धि का विषय होने से प्रमेय माना गया है, उपलब्धि में स्वतन्त्रःकर्त्ता' के अनुसार कर्त्ता के स्वतंत्र होने से आत्मा प्रमाता कहा जाता है अथवा एक ही बुद्धि उपलब्धि का साधन होने से 'प्रमाण' और उसका विषय होने से प्रमेय, तथा दोनों के अभाव में प्रमिति (उपलब्धि रूप) कहाती है" उसी प्रकार वेद भी अन्य-तत्त्व-विनिश्चय के लिए प्रमाण, जीवात्मा के अध्येतव्य होने से प्रमेय तथा प्रमाणत्व और प्रमेयत्व के अभाव में 'प्रमा' रूप भी होते हैं।

यह जो कहा कि—'प्रमात्व और प्रमाणत्व में विरोध होने से'। यह आपका कथन शब्द के विशिष्ट अर्थज्ञान के अनुशीलन के अभाव में ही कहा गया है। यहाँ पर विरोध शब्द का प्रयोग अशुद्ध है, क्योंकि विरोध होने पर तो 'प्रमा' का करण साधन है यह नहीं कहा जा सकता।

यच्चोक्तं "अत्यन्तसालक्षण्ये साध्य-साधन-भावानुपपत्तेरिति, तदपि नूनमविचारितचारु एव। लोके दण्डरूपसाधनेन अन्यसाध्य-दण्डत्रोटन-सम्भवतया प्रत्यक्षविरोधात्।

अनुपपत्तौ चास्यां किञ्चित्प्रमाणं युक्तिर्दृष्टान्तो वा नोपस्थापितो भवता। यच्च पृच्छ्यते वेदानां किमधिकरणममिति ? परमेश्वर एवेति तु समाधानम्। ज्ञानरूप-गुणस्य द्रव्याश्रयत्वात्। अतः वेद-ज्ञानस्य आधारः प्रभुरेव। वेदाः सर्व-विद्या-स्थानानि सर्व-विद्या-स्वरूपाण्येव, ज्ञानस्य पूर्वाऽपर-धारावाहकतायां पूर्वाधारः ईश्वरः, उत्तराधारश्च जीवः, पुनरपि अनाद्यन्तिमाश्रयस्तु परमात्मैव।

यदुक्तं 'नान्यज्ञानस्य अन्यज्ञानमधिकरणमिति', तदेतद्भवत्कथनं तु अव्यावहारिकं प्रत्यक्ष-विरुद्धं च, यतो हि वयं पश्यामः यद् गुरोर्ज्ञानस्य शिष्यः (तद्बुद्धिः) अधिकरणं भवत्येव।

अथापि वेदाः सत्यविद्यावन्तः, तदा सत्यविद्यावत्त्वं विशेषणं वेदाश्च विशेष्याः, विशेषणं हि व्यावर्त्तकमन्यग्रन्थेभ्यः।

यह जो कहा कि अत्यन्त सालक्षण्य (समान लक्षणत्व) में साध्य साधन-भाव की अनुपपत्ति होगी' यह भी बिना विचारे ही कह डाला है क्योंकि लोक में देखा जाता है कि दण्ड रूप साधन से अत्यन्त सदृश दूसरा दण्ड, वृक्ष से तोड़ लिया जाता है, इस प्रत्यक्ष बात का अपलाप नहीं किया जा सकता।

आपने इस अनुपपत्ति में कोई प्रमाण युक्ति अथवा दृष्टान्त नहीं दिया, और यह जो आपने पूछा कि वेदों का अधिकरण (आधार) क्या है ? सो इसका आधार परमेश्वर ही है, क्योंकि गुण गुणी (द्रव्य) के ही आश्रित रहता है।

वेद सब सत्य विद्याओं का स्थान है अर्थात् वे सत्य विद्या-स्वरूप ही हैं। ज्ञान की पूर्वापर-धारावाहकता में पूर्व का आधार ईश्वर है। उत्तराधार जीव है। फिर भी उस ज्ञान का अनादि और अन्तिम आधार ईश्वर ही है।

यह जो कहा कि—'अन्य ज्ञान का अधिकरण अन्य नहीं होता, यह भी अव्यावहारिक और प्रत्यक्ष के विरुद्ध है क्योंकि हम देखते हैं कि गुरु के ज्ञान का शिष्य (तद्बुद्धि) अधिकरण होता ही है।

वेदा० पा० ५०७ तमे पृष्ठे यच्चोक्तं "वाक्य-ज्ञानेन वाक्यार्थ-ज्ञानवत् परमेश्वर-निष्ठ-वेदात्मक-ज्ञानेन सत्यविद्यात्मकं ज्ञानं भविष्यतीति चेन्न, तथात्वे वेदात्मकाः वेदाः तदा तेषामन्यत्र संक्रमणमन्य-निष्ठ-जनकत्वं च सर्वथा नोपपद्यते।"

तदिदं सर्वं भ्रामकं भवत्कथनं, वाक्य-वाक्यार्थ-दृष्टान्ताऽसङ्गतेः। किमिह परमेश्वर-निष्ठं वाक्यं, सत्यविद्यात्मक-ज्ञानं च वाक्यार्थः? नैव, परेश-निष्ठ-वेदात्मक-ज्ञानस्यैव सम्पूर्णसत्यविद्यात्मकत्वात्।

भोः करपात्र-बद्ध-श्रद्धाः। अत्र तावद्विचारयन्तु यदयं लेखकः वेदं नेश्वरीयं ज्ञानं मनुते। ईसाई-यवनादिमतानुयायिनां समीपे तु ईश्वरीयं ज्ञानं बाइबिलं कुरानं चेत्यादि वर्त्तते, परं करपात्रमहोदयस्य एतस्मिन्मते स्वीकृते तत्प्रतियोगितायां नार्याणां समीपे किमपि परेश-ज्ञानं सम्भवति। तदेवमयं करपात्रप्रयासो धर्म-वृक्षस्य मूले कुठार-

---

तथाच 'वेद सब सत्य-विद्याओं से युक्त है' यहाँ सब सत्य विद्यायुक्त होना विशेषण है और वेद विशेष्य हैं। विशेषण व्यावर्त्तक होगा अतः वेद सब सत्य-विद्या युक्त होने के कारण अन्य ग्रन्थों के व्यावर्तक हैं।

वे० पा० के पृ० ५०७ पर यह जो कहा कि "वाक्य-ज्ञान से वाक्यार्थ-ज्ञान के समान, परमेश्वर-निष्ठ वेदात्मक ज्ञान से सत्यविद्यात्मक ज्ञान हो जायेगा' वह भी ठीक नहीं, ऐसा मानने पर मनुष्यों में वेदात्मक-ज्ञान से सत्य विद्याओं की उत्पत्ति न होगी, क्योंकि अन्य में रहने वाले वाक्य-ज्ञान से अन्य-निष्ठ वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि वेद ईश्वरीय-ज्ञान हैं, तब उनका अन्यत्र संक्रमण अथवा जन्म नहीं हो सकता"।

आपका यह कथन भ्रामक है, क्योंकि आपका वाक्य और वाक्यार्थ का दृष्टान्त असंगत है। भला क्या यहाँ परेश-निष्ठ-ज्ञान वाक्य है? और क्या वेदस्थ सत्य-विद्यात्मक-ज्ञान वाक्यार्थ हैं? कदापि नहीं। परेश-निष्ठ वेदात्मक ज्ञान ही सत्य-विद्यात्मक ज्ञान है। ओ करपात्री जी के श्रद्धालु भक्तो! यहाँ विचार करो कि यह लेखक यहाँ वेदों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानता। इस प्रकार ईसाई यवनादि मतानुयायियों के पास तो बाइबिल कुरानादि हैं उनकी प्रतियोगिता में आर्यों के पास कोई ईश्वरीय-ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार इनका यह प्रयास धर्म-वृक्ष पर कुठाराघात है।

प्रहारः एव। ननु वाक्य-ज्ञानं परमेश्वरे वाक्यार्थ-ज्ञानं च जीवे तिष्ठति इति मन्येत चेत्तदपि न, सर्गादौ वाक्यार्थ-ज्ञानस्य अग्न्यादिषु व्यापकेन परमात्मना कारितत्वात्। परमेश्वरस्यैव समस्तं ज्ञानं वेदः। तच्च जीवानां कल्याणाय तत्त्व-ज्ञानाय चापेक्षितं वर्त्तते।

यच्च भवान् वक्ति 'यदीश्वरस्य समस्तं ज्ञानं वेदः. तथात्वे परमेश्वरस्य भौतिक-ज्ञानानां वेद-बाह्यत्वादसार्वज्ञ्यापत्तिः, इति, तदपि न युक्तम्। आधुनिकैर्वैज्ञानिकैः कृतानामाविष्काराणामपि वेदमूलकत्वान्न वेद-बाह्यत्वम्।

किञ्चैषां सर्वेषां भौतिक-ज्ञानानां वेदेषु मूलं वर्त्तते एव। वेद-प्रदत्तं मूल-ज्ञानमेव सर्वैर्जीवैः स्वबुद्ध्या पल्लवितं क्रियते। यदि परेशः सर्गादौ वेद-ज्ञानं नादास्यत् तदा नैमित्तिक-मूल-ज्ञानाऽभावे कश्चिदपि जीवः किमपि आविष्कर्त्तुं नाऽशक्ष्यत। अतः सर्वस्य भौतिक-ज्ञान-स्यापि वेदमूलकत्वेन न परमेश्वरे असर्वज्ञत्वापत्तिः।

किं च भवतां मते वेदो न समस्तं ज्ञानं, नाऽपि ज्ञानांशः, तदा का

अच्छा तो 'वाक्य-ज्ञान परमेश्वर में ठहरता है और वाक्यार्थ-ज्ञान जीव में, यह कहें तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्ग के आदि में ईश्वर ने अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में वाक्यार्थ का ज्ञान कराया था। इस प्रकार समस्त वेद ज्ञान परमेश्वर का ही है और वह ज्ञान जीवों के कल्याण और तत्व ज्ञान के लिए अपेक्षित है।

यह जो आप कहते हैं कि 'यदि समस्त ज्ञान ईश्वर का वेद ही है तो उसमें आधुनिक भौतिक ज्ञान से आविष्कृत आविष्कारों के ज्ञान का समावेश न होने से ईश्वर के सर्वज्ञत्व में दोष आयेगा।' यह भी युक्त नहीं, क्योंकि आधुनिक आवि-ष्कारों का मूल वेदों में है। आविष्कारक वेदों के मूल ज्ञान को प्राप्त करके ही उसको पल्लवित करते हैं। यदि परमात्मा सृष्टि के आदि में वेद-ज्ञान न देता तो मूल-ज्ञान के अभाव में जीव कोई भी आविष्कार नहीं कर सकता था। इस लिए समस्त भौतिक-ज्ञान के भी वेद-मूलक होने पर परमेश्वर में असर्वज्ञत्व का दोष नहीं आ सकता।

इसके अतिरिक्त आपके मत में वेद न तो समग्र ज्ञान हैं और न ज्ञानांश ही हैं। तब बताइए तीसरी कोटि कौन सी है? महाशय! भौतिक या अभौ-

नाम तृतीया कोटिः सम्भाव्यते ? किमस्ति भौतिकमभौतिकं वा यत् परेशज्ञानाद् बाह्यं, यदि नास्ति, तर्हि वेदानां सर्वविद्यावत्त्वे न विघातः।

यच्चोक्तं "ईश्वरस्य ज्ञानरूपा वेदाः निर्विषयाः सविषयाः वा ? नाद्यः, विकल्पानुपपत्तेः। ईश्वरज्ञानमेकं व्यापकं नित्यमनेकं परिच्छिन्नमनित्यं वा ? नाद्यः, वेदा इति बहुवचनानुपपत्तेः। नान्त्यः नित्यत्वोक्ति-व्याघातात्। न द्वितीयः, तज्जन्यायाः सद् विद्यायाः विषयेभ्यो भिन्नास्तद्विषयाः अभिन्ना वा ? भिन्नत्वे के ते ? कथं वा भिन्नविषये ज्ञाने भिन्नविषया विद्या जायन्ते ? कार्यकारण-भाव-नियामकाभावादतिप्रसक्तिश्च। अभिन्नाश्चेन्नैरर्थक्यापत्तिः। नहि घटविषयया प्रमया घटप्रमाजन्यत्वेऽपि किञ्चित्प्रयोजनं सिध्यति। तस्माद् वेदविषयकं सर्वमपि दयानन्दीयं मतमशुद्धमेव"।

वस्तुतस्तु करपात्रिण एवेदं सर्वमृषिखण्डनमसङ्गतम्, वेदानां विषये निर्विषय-सविषययोरेकतर-पक्षस्यानिर्धारणात्, तृतीयपक्षस्य च स्वाङ्गीकृतस्य अनुपस्थानात्। अयं हि लेखकः कुतर्क-मनो-मोदकैरसूयाद्वेषादिप्रवृद्धात्म-क्षुधां शमयितुं निष्फल-प्रयासमनुतिष्ठति।

तिक कुछ भी वेद-ज्ञान से बाहर नहीं। अतः वेदों के सर्वविद्यायुक्त होने में कोई भी रुकावट नहीं आ सकती।

आपका यह कथन कि "ईश्वर के ज्ञान रूप वेद निर्विषय हैं या सविषय ? विकल्प की अनुपपत्ति के कारण निर्विषय तो हो नहीं सकते, क्योंकि यह विकल्प उठता है कि ईश्वर का ज्ञान, एक, व्यापक, नित्य है या अनेक, परिच्छिन्न और अनित्य है ? पहली बात ठीक नहीं क्योंकि तब वेदाः' यह बहुवचन नहीं बन सकता, अन्तिम भी नहीं क्योंकि वेद जन्य सद्विद्या के विषयों से ये विषय भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न हैं तो वे विषय कौन से हैं ? और भिन्न विषयक ज्ञानों से भिन्न-विषयक विद्यायें कैसे उत्पन्न होती हैं ? कार्य-कारण भाव के नियामक न होने से अतिप्रसङ्ग होगा। यदि अभिन्न हैं, तो निरर्थक हैं, क्योंकि घट-विषयक प्रमा से घट-प्रमा-जन्य होने पर भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिए दयानन्द का वेद विषयक समस्त मत ही अशुद्ध है।"

परन्तु बात वास्तविक यह है कि करपात्री जी का यह समस्त कथन असङ्गत है। वेदों के विषय में निर्विषय और सविषय इनमें से किसी एक पक्ष का निर्धारण नहीं किया है और न स्वीकृत तृतीय पक्ष की ही उपस्थापना की

सम्प्रति सूक्ष्मेक्षिका-विचक्षणेभ्यस्तत्समाधानं विधीयते। तथा हि:—ज्ञानरूपाः हि वेदाः ईश्वरदृष्ट्या निर्विषयाः यतो हि ते परमेश्वरं नानुबध्नन्ति, परं जीवदृष्ट्या तु सविषयाः। विषिण्वन्ति बध्नन्ति इन्द्रियाणि इति विषयाः, तथा च विषिण्वन्ति विषयिणं येन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति इति सांख्यतत्त्वकौमुदी, अथवा द्व्यणुकादि-ब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव भोगसाधनं विषयः, तथा हि:—सर्वमेव हि कार्यमदृष्टाधीनं, यच्चादृष्टाधीनं तत् तदुपभोगं साक्षात् परम्परया वा जनयत्येव नहि-बीजप्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरस्ति, तेन द्व्यणुकादि ब्रह्माण्डान्तं सर्वमेव विषयं भवतीति सिद्धान्तमुक्तावली।

तदनुबन्धनात् निर्विषयत्वेऽपि वेद ज्ञानमेकं व्यापकं नित्यं च विद्यते एव। किञ्च ज्ञानस्य समष्टित्वेन एकवचनं, तस्य विभाजनात्तु वेदाः इति बहुवचनं, तथा तेषां नित्यत्वादिकमक्षतमेव। अतोऽनेकत्वपरिच्छिन्नत्वाऽनित्यत्व-शङ्काऽपि निरस्तैव।

है। लेखक ने कुतर्क मनोमोदकों से असूयाद्वेषादि से बढ़ी हुई अपनी क्षुधा-शान्त करने के लिए निष्फल प्रयास किया है।

अब सूक्ष्म-चिन्तनशील विद्वानों के लिए समाधान प्रस्तुत है। ज्ञान रूप वेद ईश्वर दृष्टि से निर्विषय और जीवात्मा की दृष्टि से सविषय हैं। विषय का अर्थ है जो इन्द्रियों को विशेष रूप से बाँधते हैं या सांख्यतत्त्व कौमुदी के अनुसार, विषय वे हैं जो विषयी को जिस रूप से भी निरूपणीय बनाते हैं अथवा सिद्धान्त मुक्तावली के अनुसार भोग-साधन का नाम विषय है, सभी कार्य अदृष्ट के अधीन हैं और जो कार्य अदृष्ट के अधीन है वह उपभोग को साक्षात् या परम्परा से उत्पन्न करता है, बीज और प्रयोजन के बिना किसी की उत्पत्ति नहीं होती, अतः द्व्यणुक से लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त सब विषय ही हैं।

ज्ञान-रूप वेद ईश्वर की दृष्टि से निर्विषय हैं, क्योंकि एतद् वर्णित विषयों के द्वारा वह बन्धन में नहीं आता, जीव की दृष्टि से सविषय हैं, क्योंकि वे जीव को बाँधते हैं। और निर्विषयत्व मानने पर भी यह वेद ज्ञान एक (अखण्ड) व्यापक और नित्य ही है। अनन्त और चार वेद होने से वेदाः यह बहुवचन है, तब इस ज्ञान की नित्यता अक्षत ही है। अतः अनेकत्व सीमितत्व और अनित्यत्व की शङ्का समाप्त हो जाती है।

किञ्च जीवात्मनोऽल्पज्ञता-दृष्ट्या वेदानां विभिन्ना एव विषयाः, विभिन्न-विषय-ज्ञानत्वात्तु विभिन्न-विषयिकाः विद्याः उत्पत्स्यन्ते एव, नाऽत्र सिद्धान्त-क्षतिः ।

तदेवं दयानन्द-प्रतिपादितं वेदविषयकं मतं सर्वमेव शुद्धं निभ्रन्तिं तर्कसङ्गतं च, परं करपात्रस्तु असूयाभिनिविष्टचेतसा एतत्सर्वमेव अन्यथैवापश्यत् ।

(पृ० ५०७ अनु. २) यत्तु 'नियतानुपूर्वीकोऽपौरुषेयो मन्त्र--ब्राह्मणात्मक-शब्दराशिरेव वेदः इति । तदिदं नाम वेद-लक्षणं सर्वथा दूषितमेव, यतो हि ब्राह्मणग्रन्थानां न वेदत्वं, वेद-व्याख्यानरूपत्वात् पौरुषेयत्वाच्च, किञ्च यस्य वेदस्य (मन्त्रात्मकस्य) लक्षणं क्रियते, 'मन्त्र ब्राह्मणात्मकमिति, तन्नामग्राहं अन्यत्राति-व्याप्तिनिरासाय कृतं लक्षणं सर्वथाऽनुपपन्नं, यतोहि न नामग्राहं गवादि लक्षणमिदं क्रियते यत् 'यं पशुं लोकाः गौरिति वदन्ति सा गौरिति । यथा वा केनचित्पृष्टेन यवनेन 'नियतानुपूर्वीकोऽपौरुषेयो मोहम्मद द्वारा प्राप्त-कुरआनात्मकशब्दराशिः ईश्वरीयं ज्ञानमिति कृतं लक्षणमनुपपन्नमसङ्गतञ्च ।

जीव की अल्पज्ञता की दृष्टि से वेदों में अनेक और विभिन्न विषय हैं । भिन्न विषयक-ज्ञान से विभिन्न विद्यायें उत्पन्न हो जाएगी इसमें कोई सिद्धान्त-क्षति नहीं । इस प्रकार ऋषि-दयानन्द-प्रतिपादित-वेद-विषयक-पक्ष इसी प्रक्रिया से ही वेदों का गौरव-वर्धक, तर्क-संगत तथा शुद्ध है ।

पृ० ५०७ अनु० यह कि —नियत आनुपूर्वीक अपौरुषेय मन्त्र ब्राह्मणात्मक शब्द राशि ही वेद हैं । करपात्र कृत यह वेद-लक्षण सर्वथा दूषित है, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद नहीं, अपितु वेदों के व्याख्यान रूप हैं और पुरुष-कृत हैं । दूसरा दोष इस लक्षण में यह भी हैं कि आप 'मन्त्र ब्राह्मणात्मक' यह नाम लेकर अन्यत्र अतिव्याप्ति के निवारण के लिये जो यह लक्षण कर रहे हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि जिस प्रकार कोई कहे कि जिसको लोग गौ कहते हैं, वह पशु गौ है, यह गौ का लक्षण ठीक नहीं । अथवा कोई किसी यवन से पूछे कि ईश्वरीय ज्ञान का क्या लक्षण है तो वह उत्तर दे-नियतानुपूर्वीवाला पुरुष भिन्न से बनाया हुआ' मुहम्मद द्वारा प्राप्त कुरआन रूप शब्द राशि ईश्वरीय ज्ञान है, तो वह लक्षण असंगत होता है ।

किं चान्यमतावलम्बिनोऽपि स्वधर्मस्य आदि-पुस्तकं नियतानुपूर्वीकम् अपौरुषेयं च मन्यन्ते । अतः अतिव्याप्त्याऽपि दूषितमिदं वेद-लक्षणम् । तस्मादतिव्याप्त्य व्याप्त्यसम्भवदोष शून्यमेव लक्षणं विधेलिमम् । तच्च यथा :—

हिताहितबोधकत्वे सति सृष्टिक्रमाविरुद्धं कल्पादौ प्रादुर्भूतं ब्रह्मेत्यादिप्रतिपादकमपौरुषेयं ज्ञानं 'वेदः' इति ।

अथापि भवान् स्ववेदलक्षणे 'एव' शब्दमवधारणार्थं प्रयुञ्जानः स्वलक्षणस्य दुष्टतां स्वयमेव सूचयति, दोषत्रय-शून्यलक्षणे तु 'एव' शब्दस्य नावश्यकता, अतिव्याप्तिदोषाऽप्रसक्तेः ।

यच्चोक्तं 'तस्य वर्णरूपेण नित्यत्व-विशिष्ट-विभुत्वेऽपि वर्णानुपूर्वी-विशिष्टपदवाक्यरूपेणाऽनित्यत्वेऽपि पूर्वोच्चारण-सजातीयोच्चा-

---

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य धर्मावलम्बी भी प्रायः अपनी २ धर्म की पुस्तक को आदिम नियतानुपूर्वीक तथा अपौरुषेय मानते हैं । वहाँ अति व्याप्ति होगी अतः इस प्रकार लक्षण में अनेक दोष हैं, इसलिए अतिव्याप्ति असम्भव और अव्याप्ति रूप दोषत्रय से रहित ईश्वरीय ज्ञान वेद का लक्षण यह है—

हिताहितबोधकत्वे सति इत्यादि । अर्थात् जो हित और अहित का बताने वाला, सृष्टि नियम के अविरुद्ध, सृष्टि के आदि में उत्पन्न, ब्रह्म इत्यादि विषयों का प्रतिपादन करने वाला, नियतानुपूर्वी वाला, अपौरुषेय ज्ञान ही वेद है ।

आपने वेद लक्षण में राशिरेव में अवधारणार्थ 'एव' शब्द का प्रयोग करके अपने लक्षण की दुष्टता स्वीकार कर ली है क्योंकि दोषत्रय-शून्य लक्षण में अतिव्याप्ति आदि दोष की संभावना ही नहीं होती ।

यह जो कहा कि "वर्ण के रूप में यह नित्यत्व और विभुत्व से युक्त होते हुये भी और वर्णापूर्वी से विशिष्ट पद वाक्य के रूप में अनित्य होते हुए भी पूर्व उच्चारण के सदृश ही उच्चारण की आनुपूर्वी के सदा विद्यमान रहने से यह प्रवाहरूपेण नित्य है" वह भी आपका अज्ञान वचन है, क्योंकि वर्णों का नित्यत्व और विभुत्व म.नते हुए पद-वाक्य के रूप में आनुपूर्वी का अनित्यत्व स्वीकार करने से आपके पूर्व-कथित नियतानुपूर्वी और इन वचनों में परस्पर-विरोध है ।

रणानुपूर्वीकत्वेन प्रवाहरूपेण नित्यत्वमिति' तदिदमप्यज्ञानविजृम्भितम्। वर्णानां नित्यत्वस्य विभुत्वस्य च स्वीकारात्तु आनुपूर्व्याश्चानित्यत्वाऽङ्गीकारात् पारस्परिक-विरोधापत्तेः।

वस्तुतस्तु वेदानां ईश्वरस्य ज्ञानरूपत्वाद् एतज्-ज्ञानस्य च प्रलये प्रलयाऽभावात् स्वरूपनित्यतैव। ज्ञानस्था पूर्वापरताऽनभिव्यक्तौ प्रलयकाले अक्षुण्णा। वेदरूपमीश्वरीयं ज्ञानं न प्रकृतिविकृतिरूपसृष्टि-निर्माणापेक्षामवलम्बते। वर्णानुपूर्वी-विशिष्ट-पदवाक्यस्यापि नाऽनित्यत्वं, परमेश्वर-ज्ञानस्थ-शब्दार्थ-सम्बन्धानां नित्यत्वात्।

ज्ञानरूपाद्वेदात्पृथक् याऽस्माकं वर्णानामभिव्यक्तिस्तत्रोच्चारणेनाभिव्यक्तानामेव वर्णानां पूर्वापरता कल्पिता ऽनित्या च, परं परमात्मनो ज्ञान-क्रिये नित्ये स्वभाव-सिद्धे अनादी च स्तः।, तस्य सर्व-सामर्थ्यमपि च नित्यमेव। यथा हि बीजेऽङ्कुरः तथैव ईश्वरेऽपि वेद-ज्ञानं नित्यत्वेन वर्त्तमानं भवति।

नन्वेवं तु सूर्यादि-पदार्थानामपि नित्यत्वं 'स्याद्, बीजाङ्कुरन्यायेन नित्यप्रकृतौ तेषां सर्वदा वर्त्तमानत्वादिति चेन्न, सत्कार्यवादे

वास्तव में वेदों के ईश्वर में अविच्छिन्न रूप से स्थित होने से प्रलय-काल में भी वेदज्ञान के प्रलय न होने के कारण स्वरूप-नित्यता ही है। ज्ञानस्थ पौर्वापर्य प्रलय-काल में अभिव्यक्ति के अभाव में अक्षुण्ण ही रहता है। ईश्वरीय ज्ञान प्रकृति की विकृतिरूप सृष्टि के निर्माण की अपेक्षा नहीं रखता, यह वर्णानुपूर्वी से विशिष्ट पद-वाक्य के रूप में भी अनित्य नहीं है, क्योंकि एकरस परमेश्वर के ज्ञानस्थ शब्द और अर्थ के सम्बन्ध तो नित्य ही हैं।

ज्ञान रूप वेद से पृथक् वर्णाभिव्यक्ति है वहाँ हमारे उच्चारण से अभिव्यक्त वर्णों का पौर्वापर्य अवश्य कल्पित और अनित्य है पर परमात्मा की ज्ञान क्रिया नित्य, स्वभाव-सिद्ध और अनादि है उसका सभी सामर्थ्य ज्ञान भी नित्य है। जैसे बीज में अङ्कुरोत्पादन सामर्थ्य रहती है वैसे ही ईश्वर में वेद ज्ञान भी नित्य अवस्थित रहता है।

यहाँ यदि यह कहा जाय कि बीजाङ्कुर-न्याय से तो सूर्यादि पदार्थों की भी नित्यता माननी पड़ेगी क्योंकि (सत्कार्यवाद के सिद्धान्त से) सूर्यादि की सर्वदा वर्तमानता रहती है। ऐसा कथन भी ठीक नहीं क्योंकि सत्कार्यवाद में

सूर्यादीनामनादित्वेऽपि नित्यत्वं स्यात्, बीजाङ्कुरन्यायेन नित्य-प्रकृतौ सूर्यादीनां सर्वदा वर्त्तमानत्वादिति चेन्न, सत्कार्यवादे सूर्यादीनामनादित्वेऽपि प्रकृतिस्थ-सृष्टि-प्रक्रियायाः पराश्रितत्वात्।

अयं भावः, अनादि-पदार्थाः द्विविधाः एकः अपराश्रितः द्वितीयः पराश्रितश्च। अपराश्रितोऽनादिः स्वरूपतोऽनादिरुच्यते। तत्स्वरूपे न कश्चिद्विकारो जायते, नापि परिणामः, ना ऽपि तस्यास्तित्वं परावलम्बितं तिष्ठति, परन्तु पराश्रिताऽनादिः अपराश्रितानादिम् अवलम्बते, नाऽसौ स्वतन्त्रः, यथाहि अनादि-कालात् प्रकृतौ पातितः ईश्वर-क्रिया-प्रभावः स्वरूपतोऽनादावीश्वरेऽवलम्बितः, न स्वतन्त्रः।

यदि ईश्वरः-प्रभावं न पातयेत् तर्हि सृष्टौ न क्रियाशीलताऽऽपद्येत, परं कथं न दद्यादनादिकालदत्तां क्रियां? कथमुपसंहरेदकाले चैताम्? प्रकृतावयं प्रभावः परतन्त्रोऽपि सन् अनादिः, यतो हि ईश्वरसत्तया सार्धमेव प्रकृतौ प्रभावोऽपि विद्यते।

यदुक्तं "पूर्वानुपूर्वी सापेक्षत्वेनाऽस्वातन्त्र्यात् प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वाऽभावाच्च" तदिदमविचारितचारु, अनर्थकत्वादसम्बद्धप्रलपनाच्च। भवन्मते प्रत्येकानुपूर्वी पूर्वानुपूर्वीमपेक्षते, एवं

सूर्यादि अनादि अवश्य हैं परन्तु प्रकृतिस्थ सृष्टि की प्रक्रिया तो पराश्रित है। भाव यह है कि अनादि पदार्थ दो प्रकार के होते हैं एक अपराश्रित अनादि और दूसरे पराश्रित अनादि। अपराश्रित अनादि स्वरूप से अनादि कहा जाता है और उसके स्वरूप में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न उसमें परिणाम ही होता है तथा उसका अस्तित्व भी परावलम्बित नहीं रहता परन्तु पराश्रित अनादि अपराश्रित अनादि पर अवलम्बित रहता है, स्वतन्त्र नहीं, जैसे कि अनादि काल से प्रकृति में डाला हुआ ईश्वर-क्रिया का प्रभाव स्वरूप से अनादि ईश्वर पर अवलम्बित है' स्वतन्त्र नहीं।

यदि ईश्वर प्रभाव न डाले तो कोई क्रिया न हो सकेगी। पर अनादि काल दत्त क्रिया को वह क्यों नही देने लगा? असमय में उस क्रिया के प्रभाव का उपसंहार भी कैसे कर ले? प्रकृति में यह प्रभाव परतन्त्र होकर भी अनादि है, क्योंकि ईश्वर की सत्ता के साथ ही प्रकृति पर प्रभाव विद्यमान हुआ है।

प्रत्येक आनुपूर्वी पूर्व-आनुपूर्वी की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार वह अपने

साऽनुपूर्वी न स्व-स्थितौ स्वतन्त्रा' इत्यनेन किं फलं निष्ठ्यूतं भवता ? किमस्यां सृष्टौ सूर्योऽपि स्वस्थिति-सम्पादनाय पूर्व-सृष्टि-स्थितस्य सूर्यस्य अपेक्षां कुरुते ? अहो, कीदृशो विस्मयावहः तर्कः ? किमस्मिन् तर्क ना ऽनवस्था-दोष-प्रसङ्गः ? अवश्यमेव ।

यच्चोक्तं "एतस्याः आनुपूर्व्याः रचना अन्य-प्रमाण-सहायतां विनैव विहिता"" इति, तदत्र बोधयतु कोऽर्थोऽस्य ? अन्यप्रमाण-सहायतामुपलभ्य किं किं विरच्यते ? इति न प्रकाशितम् । ज्ञायतेऽत्रप्रसङ्गे वराको हिन्दीकारोऽपि विभ्रान्त एव ।

यदप्युक्तं "अतीताऽनागतेषु विपलपलादिषु अपूर्वायाः आनुपूर्व्याः उत्पत्तेरभावादनादिनिधनत्वेन वेदानां नित्यत्वमिति" अथ च 'ईश्वर-निष्ठायाः ब्रह्माग्न्यस्मदादिनिष्ठानां चाऽऽनुपूर्वीणां भिन्नत्वेऽपि एकरूपत्वेन ऐक्यमेवेति, तदयमर्थ-विरोधोपन्यासः अस्वस्थमनोदशायामेव अनेन कृत इति प्रतीयते ।

में स्वतन्त्र नहीं है । इसकी रचना बिना किसी दूसरे प्रमाण की सहायता से की गई है यह कथन भी अविचार-पूर्ण अनर्थक और असम्बद्ध है ।

आपके मत में प्रत्येक आनुपूर्वी पूर्व आनुपूर्वी की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार कोई भी आनुपूर्वी अपनी स्थिति में स्वतन्त्र नहीं, यह कहकर आपने प्रकृत में क्या परिणाम निकाला ? क्या इस सृष्टि का सूर्य भी अपनी स्थिति के सम्पादनार्थ पूर्व सृष्टि स्थित सूर्य की अपेक्षा रखता है ? कैसा अटपटा तर्क है तब इस तर्क में फिर क्या अनवस्था दोष नहीं आता ? अवश्य आता है ।

यह जो कहा "इस आनुपूर्वी की रचना अन्य प्रमाण की सहायता के बिना ही हुई" इस कथन का क्या आशय है ? यहाँ प्रमाण शब्द से आपका क्या प्रत्यक्षादि से तात्पर्य है ? यदि हाँ तो रचना में उससे क्या सहायता होती है ? तथा यह भी बताइए कि अन्य प्रमाण की सहायता को लेकर क्या २ विरचित होता है ? ज्ञात होता है कि इस प्रसङ्ग में बेचारा हिन्दी-कार भी भटक गया है।

यह जो कहा कि "अतीत अथवा अनागत क्षण, विपल, पल आदि में भी वेद की कोई अपूर्व आनुपूर्वी उत्पन्न नही होती अतः अनादि निधन वेद नित्य माने जाते हैं।" और ईश्वर-निष्ठ तथा ब्रह्मा अग्नि आदि तथा अस्मदादि में

यदा च नातीतकाले अपूर्वाऽऽनुपूर्वी उत्पन्ना, न वा ऽनागते समुत्पत्स्यते, तदा ब्रह्मनिष्ठायाम् अन्यस्यां वाऽऽनुपूर्व्यां भिन्नता कुतः आपतिता ? येन भिन्नत्वेऽपि एकत्वमुपपाद्यते । अपरं च 'ब्रह्माग्न्यस्मदादिपाठे अग्न्यनन्तरं वाय्वादित्याङ्गिरसां निगलनं किमर्थं कृतं भवता ?

किंच यदा तु सुप्तप्रबुद्धन्यायेनैव प्रजापत्यादिभ्यः (त्वदभिमतेभ्यः) प्रादुर्भवन्ति वेदाः, तदा साम्प्रतम् ईश्वर-निष्ठाऽनुपूर्वी कुत आगता ? किमिह महर्षिदयानन्दानुमत-राद्धान्तः नाङ्गीकृतो भवता ? नूनमङ्गीकृतः ।

तदधुना तु करपात्रिन् ! कुतर्क-कासार-निकृष्ट-कर्दम-पटलाचित-पुराणारण्यानी-रूढ्यनल्पगल्पजल्प-कण्टकाकीर्णवीथीषु भ्रमणेनालम् ।

यदुच्यते "संस्कार-रूपेण प्रलयेऽप्यानुपूर्व्याः विद्यमानत्वेन अनादि निधत्वमव्याहतमेव", तन्न युक्तं । किञ्चात्र भवान् कस्य संस्कारमभिप्रैति ? किं स्वरूपं च तस्य संस्कारस्य ? इति बोधयतु ।

विद्यमान आनुपूर्वियों के भिन्न होने पर भी एकता है" यह अर्थ विरोधोपन्यास लेखक ने अस्वस्थ मनो-दशा में किया है, ऐसा प्रतीत होता है ।

जब अतीत काल में अपूर्व आनुपूर्वी उत्पन्न नही हुई और न अनागत में उत्पन्न होगी तो ब्रह्मनिष्ठा में अथवा अन्य आनुपूर्वी में भिन्नता कहाँ से आ पड़ी ? जिससे भिन्नत्व में भीं एकत्व उत्पन्न किया जा रहा है। दूसरे आपने ब्रह्माग्न्यस्मदादि पाठ में अग्नि के बाद वायु आदित्य और अङ्गिरा का निगलन कैसे कर लिया ? जबकि सुप्तप्रबुद्ध न्याय से ही तुम्हारे अभिमत प्रजापति आदि से ही वेदों का प्रादुर्भाव है तो इस समय ईश्वर-निष्ठ आनुपूर्वी कहाँ से आ गई ? अतः क्या आपने यहाँ महर्षि दयानन्दानुमत-सिद्धान्त स्वीकार नहीं कर लिया ? अवश्य कर लिया ?

इस लिए हे करपात्री जी अब तो कुतर्क के तालाब से निकली कीचड़ के समूह से पूर्ण पुराणों के महाबीहड़ जंगल की रूढ़ि ग्रस्त बहुत सी गप्पों के काँटों से युक्त वीथियों में भटकना बन्द कर दो ।

यह जो कहा कि संस्कार रूप से प्रलय में भी आनुपूर्वी रहती है, अतः वेद की अनादिनिधनता अव्याहत है, ठीक नहीं आपको यहाँ किसके संस्कार से तात्पर्य है ? और वह संस्कार कैसा है ? यह बताइए ?

अत्रावधेयं प्रथमं तावद्यत् संस्कारः न्यायशास्त्रमतेन गुणविशेषः, स च त्रिविधः (१) वेगाख्यः (२) स्थितिस्थापकः (३) भावनाख्यश्चेति । प्रथमस्तावत् मूर्त्तपदार्थस्थायी स च क्वचिद्देशजन्यः क्वचित्कर्मजन्यश्च ।

द्वितीयः पृथिवीगुणकः । तृतीयस्तु आत्मनः अतीन्द्रियगुणः स्मरण-प्रत्यभिज्ञयोः कारणं संस्कारः नेश्वरे सम्भवति, तस्य नित्यज्ञानवत्त्वात् ।

ननु अग्न्यादिष्वपि वेदानां नित्यस्थितिर्मन्येतेति चेन्न, नाऽग्न्यादीनां स्वीयं नित्यं ज्ञानं, प्रत्युत नैमित्तिकम् । तेषां ज्ञाने नित्ये सति तु विस्मरणानापत्तेः । नान्यथा तेषां ज्ञानविषयवती नित्यता सम्भवति ।

तस्मात् भवदुक्तं "यथा च सत्य-संकल्पस्य परमेश्वरस्य संकल्पेन ब्रह्मादिविशिष्टेषु ऋषिषु ईशनिष्ठायाः सदृश्याः आनुपूर्व्याः प्रादुर्भानम् अथवा सुप्तप्रबुद्धन्यायेन तन्निष्ठायाः एव प्रादुर्भावनमीश्वरकर्त्तृकवेदप्रेषणं तद्दानं वेति," सर्वमयथार्थम् ।

पहले यहाँ जानना चाहिए कि न्याय-शास्त्र के अनुसार संस्कार एक गुण विशेष है और वह तीन प्रकार का है १ वेगाख्य २ स्थिति-स्थापक ३ भावनाख्य । पहला मूर्त्तपदार्थों में स्थिर रहने वाला है वह कहीं देश जन्य और कहीं कर्म जन्य होता है । दूसरा पृथिवी-गुणक है, तीसरा आत्मा का अतीन्द्रिय गुण है, जो स्मरण और प्रत्यभिज्ञा (पूर्वस्मृति) का कारण है । यह स्मरण प्रत्यभिज्ञा का कारण रूप तीसरा संस्कार ईश्वर में सम्भव नहीं, क्योंकि ईश्वर तो नित्य ज्ञान वाला है ।

अच्छा तो यदि अग्नि आदि ऋषियों में भी वेदों की नित्य स्थिति मानी जाय, तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि अग्नि आदि का अपना नित्य ज्ञान नहीं प्रत्युत नैमित्तिक है ईश्वर प्रदत्त है । उनके ज्ञान के नित्य मानने पर तो विस्मरण नहीं होगा । उनकी ज्ञान-विषयक नित्यता अन्यथा नहीं हो सकती ।

इस लिए इस प्रकार सत्य-संकल्प-ईश्वर के संकल्प से ब्रह्मा इत्यादि विशिष्ट ऋषियों में ईश-निष्ठ वेदानुपूर्वी के समान आनुपूर्वी का प्रादुर्भावन अथवा सुप्र-प्रबद्ध न्याय से उनमें पूर्व से विद्यमान वेदानुपूर्वी का प्रादुर्भावन ही यहाँ पर ईश्वर द्वारा वेद का प्रेषण अथवा दान है ।" यह सब बेतुकी बकवास है ।

ईशनिष्ठायाः सदृश्याः, एतस्याऽयमभिप्रायो लेखकस्य यद् ब्रह्मादिगतानुपूर्वी नैव सा प्रत्युत समाना इव ईशनिष्ठया, तस्याः किञ्चित् भिन्नाऽपि वा, तदैव हि सादृश्यं संगच्छते, यतोहि सादृश्यज्ञानमेव उपमिति-कारणम् यथा गौरिव गवयः । तथा चोक्तं न्यायशास्त्रे प्रसिद्ध साधर्म्यात् प्रसिद्धस्य पूर्व-प्रमितस्य गवादेः साधर्म्यात् सादृश्यात् तज् ज्ञानात् साध्यस्य गवयादि-पदवाच्यस्य साधनं सिद्धिरुपमानम् ।

न च 'सदृश्याः' इत्यस्य शब्दस्य अत्यन्त-समानायाः एव आनुपूर्व्या वाच्यत्वे प्रयोग इति वाच्यं, यतो हि न्याय-शास्त्रे अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानाऽसिद्धिः; (न्या० २।१।४४) अर्थाद् अत्यन्त-साधर्म्यादुपमानं न सिध्यति । न चैवं भवति यथा गौरिव गौरस्ति इति ।

वस्तुतः पूर्वोक्तपक्षस्य अत्यन्तादि-विशेषणनिवेशद्वारा उपमानस्य प्रतिषेधो न युक्तः, केवलं प्रसिद्ध-साधर्म्यात् उपमान-सिद्धिर्जायते, यथा च न्याय-सूत्रं 'प्रसिद्ध-साधर्म्यात्' (न्या० २।१।४५) ।

यहाँ पर ज्ञान 'ईशनिष्ठा के सदृश' इस वाक्यांश का आशय यह है कि वह ब्रह्मा आदि गत आनुपूर्वी वह तो नहीं पर ईशनिष्ठ जैसी ही है, अर्थात् कुछ भिन्न और कुछ समान है । तभी तो सादृश्य की संगति बैठ सकती है क्योंकि सादृश्य का ज्ञान ही उपमिति का कारण होता है जैसे कि गौ के समान नीलगाय । न्याय-शास्त्र में भी कहा है कि—प्रसिद्ध सार्धम्य से साध्य के साधन का नाम उपमान है (न्या० १।१।३) अर्थात् प्रसिद्ध उपमित गौ आदि के समान धर्म की समानता से साध्य नील गाय आदि पद वाच्य की सिद्धि करना ही उपमान है ।

इस सरीखे लोगों को दर्शनाचार्य की पदवी कैसे मिल गई ? अच्छा तो 'सदृशी' शब्द का प्रयोग अत्यन्त समानता अर्थ में ही मान लिया जाय तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि न्याय-शास्त्र में, अत्यन्त 'प्रायैक, देश साधर्म्य से उपमान की सिद्धि नहीं होती (न्या० २।१।४४) कहा गया है । इस प्रकार गौरिव गौः यह उपमा का उदाहरण नहीं बनता ।

वास्तव में पूर्वोक्त-पक्ष का अत्यन्त आदि विशेषणों के निवेश द्वारा उपमान का प्रतिषेध ठीक नहीं है । केवल प्रसिद्ध साधर्म्य से उपमान की सिद्धि होती है । जैसा कि न्याय शास्त्र के (२।१।४५) सूत्र में कहा गया है ।

अत्र भवदुक्तौ ईश्वरनिष्ठानुपूर्व्यां ब्रह्मादि-निष्ठानुपूर्व्यां च न किमपि प्रसिद्धं साधर्म्यमस्ति तादात्म्यप्रतिपादने तु 'सदृशी' इति पद्-निवेशो व्यर्थ एव। उपमेयोपमानयोः किञ्चिद्भेदे एव सति सदृशादिपदनिवेशो युक्तः, नान्यथा। यथा च काव्येऽपि निदर्शनम् :—

मधुरः सुधावदधरः, पल्लवतुल्योऽतिपेलवःपाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशे चपले च लोचने तस्याः॥

अतः महर्षि-दयानन्दस्य मतं युक्तियुक्तं निर्दुष्टं चेति सिद्धम्।

(पृ. ५०८) यदुक्तं "वेदश्रुत्यादिशब्दास्तु योग-रूढा एव इति।" तदत्र अवधारणक एव-शब्दस्य प्रयोगो व्याकरणानभिज्ञत्वद्योतको युक्त्ययुक्तश्च यतः पाणिनिमुनिः वेदशब्दं रूढं च अपि मनुते। यौगिकस्तु बहुभिर्बुधैरङ्गीक्रियते एव। तथाहि :—रूढो वेदशब्द आद्युदात्तः वृषादीनां चेति (६।१।२०३) सूत्रेण सम्मतः। दर्भ-मुष्टिरित्यर्थे रूढि-गतः। अन्तोदात्तश्च योगरूढः उञ्छादीनां च (६।१।१६०) इति सूत्रेण करणे घञ् प्रत्ययान्तो निर्दिष्टः। ऋक्प्रातिशाख्य-द्वितीय-वृत्तिकारेण विष्णु-मित्रनाम्ना चापि विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिः धर्मादि-पुरुषार्थाः इति वेदा इति योगरूढत्वेन मतः। किञ्च वेदनं वेदः ज्ञानमिति भावेऽपि दृश्यते। अतो वेदादि शब्दाः योगरूढा एवेति

आपके कथन में ईश्वर निष्ठानुपूर्वी और ब्रह्मादिनिष्ठ आनुपूर्वी में कोई प्रसिद्ध साधर्म्य नहीं है, तादात्म्य प्रतिपादन में तो 'सदृशी' पद का निवेश व्यर्थ है। उपमेय और उपमान में कुछ भेद होने पर ही सदृशादि पद का निवेश होता है जैसे कि काव्य में उदाहरण है—"उसका अमृत के समान होठ मधुर है, पत्ते के सदृश कोमल हाथ है, चकित मृगनेत्रों के समान उसके चञ्चल लोचन हैं।" इसलिये ऋषि दयानन्द का मत युक्तियुक्त है।

पृ० ५०८ पर कहा है कि 'वेद श्रुति आदि शब्द तो योग-रूढ़ ही हैं' यहाँ पर अवधारणार्थक 'एव' शब्द व्याकरणानभिज्ञता सूचक और अयुक्त है, क्योंकि महावैय्याकरण पाणिनि-मुनि ने वेद शब्द को रूढ और योग रूढ़ दोनों ही माना है। यौगिक तो बहुत विद्वान् मानते ही हैं। रूढ वेद शब्द वृषादीनां च' (६।१।२०३) सूत्र के अनुसार आद्युदात्त है और दर्भमुष्टि अर्थ में सब इसको रूढ़ मानते हैं और 'उञ्छादीनां च' (६।१।१६०) सूत्र के अनुसार करण अर्थ में घञ् प्रत्ययान्त योग रूढ़ भी है, तथा ऋकप्रातिशाख्य के

करपात्रकथनं सर्वथा दूषितमेव। स्वामिना दयानन्देन तु करणे अधिकरणे भावे चापि वेद-निर्वचनं स्वीकृतम्। वेद-शब्दस्य ज्ञानार्थस्तु स्वपुस्तकस्य ६९९ तमे पृष्ठे 'धात्वर्थानुरोधेन तु ज्ञानमेव हि तदर्थः' इति ब्रुवता भवताऽपि स्वीकृत एव। तदेवमत्र भवत्-कथने 'एव' शब्द-प्रयोगात् पौर्वापर्य-विरोधोऽपि जायते। भोः करपात्रिन्, यौगिकादि-भेदत्रितयेऽपि वेद-शब्दस्य मुख्यतया ज्ञानमेवार्थः। ज्ञान-साधन-ग्रन्थोपि वा वेदः तद्वत्त्वात्। ज्ञानस्य चाऽयं स्वभावो यद् यावन्नाश्रयान्तरं लभते न तावत् शब्दवाचकता-सम्बन्धं प्राप्नोति, प्रादुर्भावे च शब्दानुपूर्वीति ख्यातिमुपयाति। यच्चापि भवता अन्य-ग्रन्थानामपि सत्य-ज्ञान-जनकता प्रोक्ता, साऽपि न मौलिकी अपि तु वेद-मूलैव।

(पृ० ५०८।अ. २) यच्च भवान् 'न कोऽपि कदाचित् कस्यचिद् देहधारिणः सकाशाद् वेद-रचनं दृष्टवान्' इति भूमिका-पाठं तुच्छमाचष्टे तत्तु तुच्छज्ञस्य लेखकस्य तुच्छतैव, यतो हि एतस्मिन् भूमिका-

---

द्वितीय वृत्तिकार विष्णुमित्र भी विद्यन्ते ज्ञायन्ते एभिः धर्मादयः इति' निर्वचन द्वारा योग-रूढ़ मानते हैं। इसके अतिरिक्त 'वेदनं वेदः ज्ञ न इस प्रकार भाव-प्रत्ययान्त भी वेद शब्द ज्ञानवाची मिलता है इसी प्रकार श्रुति आदि शब्द हैं। अतः वेदादि शब्द योगरूढ़ ही हैं, ऐसा कथन सर्वथा दोषयुक्त है। महर्षिदयानन्द ने करण, अधिकरण और भाव में वेद शब्द का प्रयोग किया है और स्वयं करपात्री जी ने भी अपनी पुस्तक के ६९९ पृष्ठ पर वेद शब्द का 'ज्ञान' अर्थ स्वीकार किया है, इसलिये वेदादि शब्दों को केवल योगरूढ़ मानना अशुद्ध है और स्ववात का पूर्वापर विरोध भी है।

करपात्री जी महाराज। देखिये, वेद शब्द यौगिकादित्रिप्रकारक होता हुआ भी मुख्य रूप से ज्ञान वाची है। ज्ञान का साधन होने से ज्ञान-युक्त ग्रन्थ विशेष को वेद कह देते हैं। ज्ञान का यह स्वभाव है कि जब तक यह आश्रयान्तर को नहीं प्राप्त करता है, तब तक शब्द-वाचकता सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता है। प्रकट होने पर शब्दानुपूर्वी ख्याति को प्राप्त करता है। आपने अन्य ग्रन्थों की रचना की सत्य-ज्ञान-जनकता कही है, वह उनकी मौलिक नहीं है, वरन् वेद-मूलक है।

पृ० ५०८ अनु. २ पर यह कि कोई भी कभी भी किसी भी देहधारी के पास से वेदों की रचना को नहीं देख सकता 'यह भूमिका-कथन तुच्छ है।'

पाठे महर्षेरयमेव आशयः, यत् कोऽपि मानवः कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात् तदुपज्ञारूपं वेद-रचनं न दृष्टवान् न स्मृतवान् नावगतवान् वेति। तत्र हि निरवयवेश्वरात् तेषां प्रादुर्भावादिति हेतुरुपन्यस्तः।

एतद्-हेतोः स्थानेऽयं भ्रान्त-लेखकः अपरं वाक्यं मन्तव्यत्वेन प्रस्तौति यत् "निरवयवात् परमेश्वरादपि वेद-रचनं न कश्चित् कदाचिद् दृष्टवान्' इत्यस्यापि सुवचत्वात्" इति।

तदिदं प्रस्तावनं चतुरचेतसां चमत्कारं न प्राञ्चति, बहुलसंदेहपक्षवत्त्वात्। तद्यथाः—निरवयवत्वादिति हेतुः किं परमेश्वरं विशिनष्टि, वेद-रचनं वा, आहोस्वित् कश्चिदितिपदम्, एतेषां निरवयवत्वात्। तदेवं तत्स्थानापन्नस्य अन्यस्य वाक्यस्य कल्पनमाहोपुरुषिकामात्रमेव भवतः, ऋषिपाठस्यैव गरीयस्त्वात्।

पाठकैः अग्रेऽपि तावत् करपात्रमहोदयस्य बुद्धि-वैशिष्टय-निदर्शनं

यहां लेखक का तुच्छ कहना ही तुच्छ है, क्योंकि महर्षि के भूमिका के पाठ का यह आशय है कि कोई कभी किसी भी देहधारी के पास से मौलिक ज्ञान रूप वेद की रचना को नहीं देख सका, न जान सका, न स्मरण कर सका। 'उस निरवयव' परमात्मा से ज्ञान रूप वेदों की उत्पत्ति हुई।

यहाँ यह भ्रान्त लेखक, निरवयव ईश्वर शब्द को हेतु के स्थान पर मन्तव्यवाक्य समझता है, और निरवयव शब्द को परमात्मा का भी विशेषण मानकर उससे वेदोत्पत्ति मानता है। यहाँ 'अपि' शब्द, परमेश्वर के साथ लगाने से परमेश्र से भी वेद-रचना अर्थात् परमेश्वर से भिन्न से भी' यह अर्थ ध्वनित होता है, जो ठीक नहीं।

आपका यह प्रस्ताव बहुत से संदेहों से युक्त होने के कारण विद्वानों को रुचिकर नहीं, क्योंकि आपके प्रस्तावित वाक्य में निरवयवत्वात्' यह हेतु क्या परमेश्वर का विशेषण है? या वेद रचना का अथवा किसी व्यक्ति विशेष का? ये संदेह उठ खड़े होते हैं इनके निरवयव (निराकार) होने से। इसलिये आपका प्रस्तावित वाक्य ठीक न होकर ऋषिवाक्य ही ठीक है।

पाठक महानुभाव, आगे भी करपात्री जी की बुद्धि का नमूना देखिये, जहाँ उन्होंने प्रश्नों की झड़ी लगा दी है, जैसे एक ने नहीं देखा,

दृश्यतां यत्राऽयं प्रश्न-ततिं प्रस्तौति, यथा "एको वा न दृष्टवान्? सर्वे वा न दृष्टवन्तः? नाद्यः, त्वत्कर्तृक-भूमिका-रचनस्याऽपि बहुभिरदृष्टत्वात्" अत्रापि अयं स्वकुटिलमतिपरिचयं ददानः भूमिका-रचनस्यापि निरवयवत्वादुत्पत्ति-प्रसङ्गादिति हेतुं प्रस्तौति।

भोः कुतर्कशील। स्तोकमिह विचार्यतां यत् स्वामिना दयानन्देन अदृष्टत्वादिति हेतुना निरवयवत्वंहेतुर्निगदितः। तदेवं भवतस्तु प्रतिपदन्यास एव छलोच्छलितः।

यदुच्यते, 'नान्त्य' इति अर्थात् सर्वे वा न दृष्टवन्तो वेद-रचनं देहधारिणःसकाशादिति" तदपि न सम्भवति, असर्वज्ञस्य मनुष्यस्य तज्ज्ञानाऽसम्भवात्।

भवानिह ब्रवीतु, असर्वज्ञः मनुष्यः किं न ज्ञातुं शक्नोति? अतः द्वितीयप्रश्नोऽपि असङ्गत एव। किञ्च 'न कश्चिद्दृष्टवान्, इति कारणेन देहधारिणः वेद-रचनं नाऽभूदिति नास्ति महर्षेरभिप्रायः प्रत्युत वेदो निरवयवेश्वरादुत्पन्नोऽतो न कश्चिद् दृष्टवान् इत्येव।

अथवा सबने नहीं देखा? आदिम पक्ष तो सम्भव नहीं क्योंकि तुम्हारी बनाई भूमिका को बहुतों ने नहीं देखा, और आगे भी आप अपनी कुटिल-मति का परिचय देते हुये कहते हैं कि भूमिका-रचना भी निरवयक है, अतः वेद के समान नित्य हो जायेगी। हे कुतर्कशील! कुछ तो बुद्धि से काम लीजिये। ऋषि दयानन्द ने 'न देखने के कारण से' इस हेतु से निरवयव ईश्वर से वेद-रचना नहीं कही है प्रत्युत अदृष्ट होने में ईश्वर का निरवयत्व हेतु कहा है। इसलिये इस लेखक का प्रत्येक पद का न्यास छल से भरा हुआ है।

यह जो कहा जा रहा है कि दूसरा पक्ष भी अर्थात् 'वेदों की रचना देहधारी के पास से सभी ने नहीं देखी, नहीं बन सकता, क्योंकि असर्वज्ञ मनुष्य नहीं जान सकता।

अब आप यह बताइये कि असर्वज्ञ मनुष्य क्या नहीं जान सकता? वस्तुतः द्वितीय पक्ष भी आपका असङ्गत और ऊलजलूल हैं, क्योंकि नहीं देखने के कारण देहधारी से वेद रचना नहीं हुई' यह अर्थ वक्ता को अभीष्ट नहीं है, प्रत्युत 'वेदों का प्रादुर्भाव निरवयव, ईश्वर से हुआ' अभीष्ट है। अतः वह किसी से नहीं देखा गया, ऐसा अभिप्रेत है।

यच्चोक्तं 'नन्वेवं सिद्धान्तोऽपि 'चोद्य-सम्भवः न' तत्र सम्प्रदायाऽविच्छेदे सत्य-प्रमीयमाण-कर्तृकत्वेन नित्यत्वाऽभ्युपगमेन रचन-विषयकस्य-दृष्टत्वस्याऽदृष्टत्वस्य वाऽतन्त्रत्वात् इति'' तदिदं परीक्ष्यते।

इह श्री करपात्रः कर्त्तुर्यथार्थ'ज्ञानाभावं सम्प्रदायस्याऽविच्छिन्नतां च नित्यतायां कारणं मनुते, परं विवेकिभिर्विचारणीयं यदत्र कर्त्तुर्ज्ञानाऽभावेन अपौरुषेयत्वं तु साध्यं भवितुमर्हति परं नित्यत्वं कथमेतेन हेतुना साध्यं स्यात् ? किं यस्य वस्तुनः कर्त्तुर्ज्ञानं न भवेत् तत् किं सर्वमेव वस्तु नित्यं स्यात् ?

वस्तुतो नित्यत्व-सिद्धौ सम्प्रदायाऽविच्छेदकत्वं तु कथमपि साधकं स्यात्, परं तत्राऽपि सम्प्रदायस्य चालकः प्रथमो वेद-ज्ञानदाता परमेश्वर एवाऽस्ति, परमयं करपात्रस्तु नेदं मन्यते, यच्च मतं सुप्तप्रबुद्ध-न्यायेन स्वीकृतमनेन, तन्न केनाऽपि शास्त्रकृता मन्यते, अतस्त्याज्यमेव। अथ च सम्प्रदायावच्छेदकता ईश्वर-द्वारा न वेद-रचने विरोधिनी, न चेश्वरस्य वेदानामकर्तृकत्वसधिका। परं नैतद्दिशा परमेश्वरं वेदकर्त्तारं मनुते। 'ईश्वरात् सम्प्रदायाप्रवर्तनमतिः' महतीयमनर्थ-

---

क्या यह प्रश्न करपात्री जी के मत पर भी लागू हो सकता है ? उसका निषेध करते हुए करपात्री जी कहते हैं कि सम्प्रदाय का विच्छेद न होने और कर्त्ता को भी यथार्थ-ज्ञान न होने से वेदों का नित्यत्व स्वीकार कर रचना-विषयक दर्शन या अदर्शन का प्रश्न ही नहीं उठता।' हमारे द्वारा इसकी परीक्षा की जाती है।

यहाँ पर करपात्री जी ने कर्त्ता के यथार्थ-ज्ञान का अभाव सम्प्रदाय की अविच्छिन्नता की नित्यता में कारण माना है। यहाँ विचारने की बात है कि कर्त्ता के ज्ञान के अभाव से अपौरुषेयत्व तो साध्य हो सकता है पर नित्यत्व कैसे साध्य है ? जिनके कर्त्ता का ज्ञान न होवे क्या वे सब वस्तु नित्य होती हैं।

वस्तुतः नित्यत्व सिद्ध करने में सम्प्रदाय का अविच्छेकत्व तो किसी प्रकार ठीक हो सकता है, पर इस सम्प्रदाय का चालक अर्थात् आदि-वेद ज्ञान का दाता परमेश्वर ही है।.........पर आप ऐसा नहीं मानते।

वेदोत्पत्ति के विषय में आप सुप्त-प्रबुद्ध न्याय मानते हैं। वह आप से भिन्न किसी शास्त्रकार ने नहीं माना। इसलिये वह सर्वथा त्याज्य है और

शीलता, सम्प्रदाय-शब्दस्य अर्थस्तु गुरुपरम्परा-गतःसदुपदेश आम्नायोवा, तत्राऽपि 'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्' इति स आदिगुरुः परमेश्वरः एव सम्प्रदाय-प्रवर्तकः। स च सम्प्रदायः अविच्छिन्नतया अग्न्यादिब्रह्मादिभ्यः परम्परयाऽद्यावधि संप्राप्तः।

किञ्च सायणाचार्योऽपि शरीरधारिणः सकाशाद् वेदरचनं न स्वीकृतवान् कर्त्तुरस्मृतत्वात्, यथा हि :—''किञ्च यदि वेद-वाक्यानां शरीरी कर्त्ता स्यात् तस्य च चिरवृत्तत्वेन उपलब्ध्यभावेऽपि असौ स्मृतिपथमवतरेत्। न च स्मर्यते तस्मान्नाऽस्त्येव कर्त्ता (शरीरी) निश्चीयते।'

पूर्वपक्षः—स्यादेतत्, केनचिद् अस्मरणं वा हेतुः, आहोस्वित्सर्वैरस्मरणं, नाद्यः, देवदत्तेन अस्मृतस्यापि घटस्य विष्णुमित्र-गृहे विद्यमानत्वात्। नाऽपि द्वितीयः, जैमिनीयैरस्मरणेऽपि कणादाक्षचरण-पक्षिल-मुनि-पक्षपातिभिः स्मर्यमाणत्वात्।

सम्प्रदाय की अविच्छेकता भी ईश्वर द्वारा वेदों की रचना में विरोधिनी नहीं, और ईश्वर द्वारा वेदों की अकर्त्तृकता की भी साधिका नहीं। परन्तु आप परमेश्वर को वेदों का कर्त्ता नहीं मानते।

यह तो आपकी बड़ी भारी अनर्थ शीलता है कि आप ईश्वर से वेद-सम्प्रदाय प्रवर्तन नहीं मानते। सम्प्रदाय शब्द का अर्थ तो गुरुपरम्परागत उपदेश अथवा वेद ही है, क्योंकि योगशास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि वह परमात्मा सबका अविच्छिन्न काल से आदि गुरु है, वही सम्प्रदाय (वेद-ज्ञान-परम्परा) का आदि प्रवर्तक है और वह सम्प्रदाय अग्निवायु आदित्यादि तथा ब्रह्मादि से प्रारम्भ होकर आज तक चालू है।

इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि कर्त्ता के स्मरण न होने से सायणाचार्य ने भी किसी शरीर धारी से वेदों की रचना नहीं मानी है, जैसा कि उन्होंने लिखा है ''यदि वेद-वाक्यों का शरीर-कर्त्ता होता तो चिरकाल के पश्चात् भी उपलब्धि के अभाव में याद अवश्य रहता और चूंकि वह किसी को स्मरण नहीं है। अतः वेदों का कर्त्ता कोई अशरीरी ही है, ऐसा निश्चित होता है।''

(पू. पक्ष) इस पक्ष में पूर्व पक्ष की उद्भावना करते हुये सायणाचार्य

(उ०प०) न तदीयैरपि वृद्धव्यवहारावगत-पद-पदार्थ-सम्बन्धस्य तदर्थं विषय-विलक्षणक्षणिक-चक्षुरादि-जन्यवेदनस्य माता-पितृ-सम्बन्धप्रसूत-पार्थिव-शरीरस्य कर्त्तुरस्मरणत्वात्" (अथर्व० भा० भूमिका) तदेवं सायणाचार्येण महर्षिदृष्टिरेव समर्थिता।

(पृ० ५०६ अनु०१) यच्च करपात्रिणाऽभिप्रीयते 'यदि वेदाः परमेश्वरेण रचितास्तदा अग्न्यादीनां निमित्तत्वं न सम्भवति, अथापि अग्न्यादयः परमात्म-ज्ञान-साहाय्येन रचितवन्तस्तदा अध्यापक-शिष्यकृत-रचनावद् अग्न्यादिभिरेव रचिता इति मन्तव्यम्' इति। अत्रोच्यते :—

(उ. प.) सृष्ट्यादौ वेद-श्रावणाध्यापन-परम्परां जीवयितुं शरीरधारिणोऽग्न्यादयः निमित्तीभूताः, वेद-ज्ञानं तु परमेश्वरेण तदा-

---

लिखते हैं:—यदि वह वेद रचियता अस्मृत है तो क्या वह किसी एक के द्वारा अस्मृत है या बहुतों के द्वारा? यहां प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि घटादि एक वस्तु यदि देवदत्त को स्मरण नहीं, तो वह विष्णुमित्र को स्मरण हो सकती है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि जैमिनीयों के द्वारा स्मरण न होने पर भी कणाद गोतम आदि के द्वारा वह कर्त्ता स्मृत है। (उ. प.) परन्तु उनके द्वारा भी कोई पार्थिव-शरीरधारी कर्त्ता स्मृत नहीं है।) अथर्व वेद सा० भाष्य भूमिका)

इस प्रकार सायणाचार्य से भी आचार्य दयानन्द का 'निराकार परमेश्वर से वेदोत्पत्ति' रूप मत समर्थित है।

पू० प० — पृ० ५०६ के प्रथम अनुच्छेद में करपात्री जी का अभिप्राय है कि यदि वेद परमेश्वर ने रचे, तो अग्नि वायु आदि को वेदोत्पत्ति का निमित्त मानना ठीक नहीं, और यदि यह माना जाये कि अग्नि आदि ऋषियों ने परमात्म-ज्ञान की सहायता से वेदों को रचा, तो जैसे गुरु की सहायता से कोई शिष्य किसी ग्रन्थ की रचना करता है, तो वह ग्रन्थ उसी शिष्य का माना जाता है, इसी प्रकार अग्नि आदिकों ने ही वेदों को रचा, ऐसा मानना चाहिये।

(उ. प.) इसका उत्तर सुनिये, सृष्टि के आदि में वेदों की श्रावण और अध्यापन परम्परा को जीवित रखने के लिये शरीर-धारी अग्नि आदि निमित्त बने, तब वेद-ज्ञान ईश्वर ने उनकी आत्मा में प्रकाशित किया। सायणाचार्य

त्मसु प्रकाशितम्। सायणस्याप्ययमेव आशयः यत् ईश्वरस्याग्न्यादि-प्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यमिति अतएव महर्षिणाऽपि प्रोक्तम् अग्न्यादयः निमित्तीभूताः वेदप्रकाशनार्थमिति।'

यच्चोक्तं 'अध्यापक-दत्तेन ज्ञानेन शिष्यनिमित-ग्रन्थानां शिष्य-कर्तृकत्व-प्रसिद्धि-विरोधादिति, तत्तु अविचारितोक्तमेव करपात्रिणः, यतो हि यथा कश्चित् शिष्यः स्वगुरोर्वाक्यानि अन्यस्मै अविकलं प्रकाशयति तदा तद्वाक्यजातं गुरोरेव प्रसिध्यति न शिष्यस्य, परं यदा तज्ज्ञान-सङ्गतं किमपि व्याख्यानरूपात्मकं स्वसंस्काराभ्यासजनितं स्वार्जितं प्रकाशयति तदा तु तत् शिष्य-नाम्नैव प्रसिध्यति' इति सर्व-विदितम्। किञ्च चौरकवयो यथाऽन्यकवि-रचनां स्वनाम्ना ख्यापयन्ति न तथा कृतमेभिः अग्न्यादिभिर्वेद-रचने। अतएव इदं वेदकाव्यम् आदि-देवस्य परमेश्वरस्यैव प्रोच्यते नान्यस्य। तथा चोक्तं "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" इति

तदेवं भवान् सर्वत्र स्वसिद्धान्तसमर्थने अस्पष्ट एव, यथाहि कदाचिद् वेदानां कर्त्तारम् ईश्वरं कदाचित् सुप्तप्रबुद्धन्यायेन अनीश्वरं (प्रजापतिं) मनुते कदाचिच्च स्वार्चनीयचरण-शंकर-सायणादि-मतमपि विरुणद्धि, क्वापि अक्षपादगोतमस्य महर्षेराशयमनवबुध्य शब्दानित्यत्ववादिनं तमाकलय्य स्वपाण्डित्याखण्डतां साधयति। तदेवं-

---

का भी यही आशय है। जैसा कि पहले भी कहा है कि 'अग्न्यादि के प्रेरक होने से ईश्वर का (वेद) निर्मातृत्व स्वीकार करना चाहिये इसीलिये ऋषि ने ठीक कहा है कि वेदों के प्रकाशनार्थ अग्नि आदि ऋषि निमित्त बने।

'अध्यापक द्वारा दिये गये ज्ञान से शिष्य के द्वारा बनाये ग्रन्थ शिष्य के ही माने जाते हैं।" यह आपका कथन अबिचारित ही है, क्योंकि जब कोई शिष्य अपने गुरु के वाक्यों को ग्रन्थ-रूप में अविकल प्रकाशित करता है, तो वह ग्रन्थ गुरु का ही कहलाता है परन्तु जब शिष्य गुरु-प्रदत्त उस ज्ञान के आधार पर अपने संस्कारों से जनित व्याख्यानरूप ग्रन्थादि की रचना करता है, तो वह ग्रन्थ शिष्य का ही कहलाता है। यह बात सर्व विदित है।

जिस प्रकार चोर-कवि अन्य कवियों की रचना को अपने नाम से प्रसिद्ध कर देते हैं, वैसे इन अग्नि आदि ऋषियों ने नहीं किया। उन्होंने तो अपने गुरु परमात्मा का अविकल (वेद) ज्ञान उसमें अपना बिना कुछ मिलाकर

विधो दम्भी भवान् बहुत्र परस्पर-विरोध-वचन-रचना रज्जु-पाशितोऽपि सर्वतः स्वगलान्निस्सार्य उभयतस्पाशरज्जुमन्यत्र पातयितुं प्रयतते । वस्तुतस्तु 'शास्त्रयोनित्वादित्यादिबहुशास्त्रीयप्रमाण-विरुद्धमेव वेदानामनीश्वरकर्त्तृत्वमिति दिक् ।

(पृ० ५०९ अनु. २) यदपि चोक्तं 'वेदेषु शब्दार्थ-सम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः, पूर्णविद्यावत्त्वात्, इदमपि तुच्छं पूर्णविद्यावत्त्वस्योत्पत्तावहेतुत्वादिति ।'' तदपि महत्तुच्छम् ।

भोः विपथगामिन् ! वेदब्राह्मणादिप्रमाणैः महर्षिणा युक्तयुक्तिभिश्च ईश्वराद् वेदानां प्रादुर्भावः पूर्वमेव साधितः । इह पूर्णविद्यावत्त्वादिति हेतुस्तु शब्दार्थ-सम्बन्धवतां वेदानां प्रादुर्भूतौ न केवलमुत्पत्तौ । तदेवम् इमे शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव

प्रकाशित किया । अतः वेद रूप काव्य उस परमात्मा का ही कहलाता है, अग्नि आदि ऋषियों का नहीं । जैसा कि कहा है :—'परमात्मा के काव्य को देखो जो कभी नहीं मरता है न जीर्ण होता है ।

इस प्रकार आप अपने सिद्धान्त के समर्थन में अस्पष्ट ही हैं, कभी आप वेदों का कर्त्ता ईश्वर को, कभी सुप्त-प्रबुद्ध न्याय से अनीश्वर प्रजापति को मानते हैं और कभी अपने पूजनीय आचार्य शंकर और सायण के मत को भी तिलाञ्जलि दे बैठते हैं, और कहीं अक्षपाद गोतम के आशय को न समझ कर उसको शब्दानित्यवादी मानकर अपने पाण्डित्य को सिद्ध करना चाहते हैं। इस प्रकार दम्भधारी आप बहुत स्थलों पर परस्पर-विरोधी वचनों के जाल में फंस जाते हो और फिर उस उभयतस्पाश रज्जु को अपने गले से निकालने का व्यर्थ प्रयत्न करते हो । वास्तव में वेदों का अनीश्वर-कर्त्तृत्वप्रतिपादन-'शास्त्रयोनित्वाद् इत्यादि शास्त्रीय प्रमाणों के विरुद्ध है । इस विषय में इतना ही दिग्दर्शन पर्याप्त है ।

(पृ. ५०९ अनु. ३) पर यह जो कहा कि ''वेदों में शब्दार्थ सम्बन्ध परमेश्वर से प्रादुर्भूत हुये, ईश्वर के पूर्ण-विद्यायुक्त होने के कारण, यह (ऋषि) कथन तुच्छ है, क्योंकि पूर्णविद्यावत्व उत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकता ।''

ओ उलटमार्गगामीजी ! आपकी विपथगामिनी बुद्धि यथार्थ को नहीं समझती, क्योंकि असूयाग्नि से वह दग्ध हो चुकी है । देखिये, वेद ब्राह्मणादि के प्रमाणों से और युक्त युक्तियों से ऋषि दयानन्द ने वेद प्रादुर्भाव को पूर्व

प्रादुर्भावयितुं शक्याः, नाऽन्यस्मादिति तत्र प्रतिपिपादयिषयैव महर्षिणा 'एव' शब्दः अवधारणार्थः प्रयुक्तः, किञ्च नित्यादेव परमेश्वरात् नित्यशब्दार्थ-सम्बन्धाः सुघटाः । यच्चोक्तं 'पूर्णविद्यावत्त्वे घटादीनामपि परमेश्वरादेव कुतो नोत्पत्तिरिति ? तदिदमपि समग्रमज्ञानविजृम्भितमेव, घटादीनां निर्माणे पूर्ण-विद्यावत्त्वस्य गुणस्यानावश्यकत्वात्, घटपटमठादिनिर्माणं तु अल्पविद्या अपि मानवा कर्त्तुं शक्नुवन्ति । यथा च कर-निर्माणे तु तस्य परमेश्वरस्य आवश्यकता, न (घटादि) पात्र-निर्माणे, तदनुग्रह प्राप्तकराभ्यां पात्ररचना-सम्भवात् । अथापि पूर्णविद्यावान् ईश्वरः अल्पविद्या-साध्य-रचना-सामर्थ्यं निदधाति जीवात्मसु । वेदोत्पत्तिसामर्थ्यं तु मानव-सामर्थ्य-परिधेर्बाह्यमल्पज्ञत्वाज्जीवात्मनः ।

यच्चाह-दर्शनाचार्यपदलाञ्छनः तदनुवादकः 'नित्य आत्माओं में भी पूर्णविद्यावत्त्व विद्यमान है' एतदुत्तरे तु इदमेव ब्रूयते ।

हा ! दर्शनं ननु धुनोति शिरः स्वकीयम्,
आचार्यतां ह्यगमयद् ब्रजवल्लभं यत् ।

ही सिद्ध कर दिया है, यहाँ तो 'पूर्ण-विद्यावत्त्वात्' यह हेतु 'शब्द, अर्थ और सम्बन्ध युक्त-वेद प्रादुर्भूत हुये' बताने के लिये दिया है । यदि कोई यहाँ यह शंका करे कि वेद तो परमेश्वर ने उत्पन्न कर दिये, पर शब्द अर्थ और सम्बन्ध किसी और ने जुटाये, इस बात के निराकरण के लिये 'परमेश्वरादेव' में 'एव' शब्द को पढ़ा है अर्थात् परमेश्वर ने ही ये शब्दार्थ सम्बन्धादि भी बनाये और नित्य परमेश्वर से ये शब्दार्थ सम्बन्ध भी नित्य सिद्ध हैं ।

''यदि परमात्मा पूर्ण-विद्यायुक्त है तो उससे ये घटपटादि भी क्यों नहीं उत्पन्न माने जाये ।'' यह बात भी आपकी अज्ञान जन्य है, क्योंकि घटादि की उत्पत्ति में, बनाने वाले में, पूर्णविद्यावत्त्व-गुण की आवश्यकता नहीं । घटादि का निर्माण तो अल्पविद्यायुक्त साधारण मनुष्य (कुम्भकार) भी कर सकते हैं । हाँ, कर (हाथ) के निर्माण में तो परमेश्वर की अपेक्षा होती है, पात्र (घटादि) 'के निर्माण में नहीं । ईश्वर के प्रदत्त हाथों से घटादि की रचना सम्भव है । इसके अतिरिक्त पूर्ण-विद्या-युक्त ईश्वर अपूर्णविद्यावाले मनुष्यों से साध्य वस्तुओं के निर्माण की सामर्थ्य जीवात्माओं में देता है । परन्तु वेदोत्पत्ति की सामर्थ्य तो अल्पज्ञ मानवों की सामर्थ्य परिधि से बाह्य है ।

जीवान् समानखिल-बोधवतोऽवदद् यः,
निष्कोषतां वत गताऽस्ति मतिस्तदीया ॥

भोः दार्शनिकंमन्य, नहि जीवात्मनां पूर्णविद्यावत्वं प्रतिपादितं क्वचित् शास्त्रेषु, क्लेशकर्म-विपाकाशयैस्तेषां परामृष्टत्वात्, बन्धनात्मक-कर्मकर्त्तृत्वेन भोक्तृभावाच्च क्लेशकर्मादि-दोषैरपरामृष्टत्वं तु परमेश्वरस्यैव, तथा चोक्तं योगदर्शने 'क्लेशकर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः इति। किञ्च 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखांया' इत्यादि वेद-मन्त्रे 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति वाक्ये जीवात्मनः भोक्तृत्ववर्णनं सुस्पष्टमेव। अथापि अन्यत्र 'शास्त्रे' स सर्वज्ञः सर्वविदिति सर्वज्ञत्वमीश्वरस्यैव प्रतिपाद्यते न तु जीवात्मनां, तेषां च कृते एव तु वेदादि-शास्त्र-प्रणयनमित्यलं विस्तरेण।

यच्चाभिप्रेतं करपात्रिणा समानमेव नित्यत्वं (वेद) ज्ञानस्य आत्मनां चेति तदा परमेश्वरादेव आत्मनामुत्पत्ति र्मन्तव्येति' तदपि

ग्रन्थ के भाषानुवादक दर्शनाचार्य जी के 'नित्य आत्माओं में भी पूर्ण-विद्या-वत्त्व विद्यमान है' इस कथन के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि दर्शन-शास्त्र (ज्ञान) अपना सिर पटक-पटक कर रो रहा है कि हाय मैंने ब्रजवल्लभ जी को दर्शनाचार्य बना दिया। न बनाता तो ही अच्छा था, क्योंकि यह कहकर तो इनकी बुद्धि का दिवाला ही निकल गया।

अजी दार्शनिक जी शास्त्रों में जीवात्माओं का पूर्णविद्यावत्त्व कहीं भी प्रतिपादित नहीं किया गया है वे तो योगशास्त्र के अनुसार क्लेश कर्म और विपाकाशय से (परामृष्ट) संयुक्त हैं, ईश्वर नहीं। इसके अतिरिक्त जीव बन्धनात्मक कर्म-कर्त्तृत्व के कारण भोक्ता भी है, जबकि ईश्वर नहीं। जैसा कि द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया⋯इत्यादि मन्त्र में 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' के द्वारा कहा गया है। अन्यत्र शास्त्रों में ईश्वर के विषय में 'स सर्वज्ञः सर्ववित् कहा गया, जीवात्मा के विषय में नहीं है। जीवात्माओं के अल्पज्ञ होने के कारण ही उनके लिए वेदादि शास्त्रों का प्रणयन किया है।

करपात्री जी का यह कथन है कि जिस प्रकार वेद-ज्ञान का और जीवात्माओं का समानरूप से नित्यत्व है, उसी प्रकार वेद ज्ञान के समान जीवात्माओं की भी ईश्वर से उत्पत्ति क्यों न मानी जाय। यह कथन भी तर्क

न तर्क-सङ्गतम्, यतो हि आत्मनां ज्ञानस्य च समानत्वेऽपि पूर्वेषां द्रव्यत्वमुत्तरस्य तु परेशगुणत्वं; गुणिनि परमेश्वरे च यथा समवाय-सम्बन्धेन ज्ञानगुणस्य स्थिति र्न तथा जीवात्मनां, किञ्च परमात्मनः जीवोत्पत्तौ स्वीकृतायां तेषामनित्यत्वापत्तिः स्याद् उत्पद्यमानस्यानित्यत्वात्।

यदुक्तं "किं च सर्वे शब्दाः, सर्वे अर्थाः सर्वे सम्बन्धाः पूर्णविद्यावत्वेन परमेश्वरादेवोत्पन्नाः ? वैदिका वा ? नाद्यः, प्रत्यक्ष-विरोधात्, दृश्यन्ते एवाऽनेके शब्दाः अर्थास्तत्सम्बन्धाश्च तेभ्यस्तेभ्यः कारणेभ्यः उत्पद्यमानाः परमेश्वराच्चाऽनुत्पद्यमानाः। नान्त्यः, पूर्ण-विद्यावत्त्व-व्यभिचारात्। लौकिकशब्दार्थ-सम्बन्धानां वैदिक शब्दादिभ्यो भिन्नत्वे 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (जै० सू० १।२।३०) इति न्याय-विरोधाच्चेति"। तदेतत्सर्वं तर्कशास्त्र-विरुद्धं, प्रजल्पनमेव भवतः उक्तिश्चेयं घटते भवति :—

गल्लौ हि विधिना दत्तौ, व्यर्थजल्पनशिल्पिनौ।
मुखमस्तीति वक्तव्यं, दशहस्ता हरीतकी ॥

भोः प्रजल्पक ! विचार्यतां तावत्प्रथमं तु विकल्प एवात्र निरर्थकः,

---

संगत नहीं, क्योंकि जीवात्मा और वेद-ज्ञान की समानता होते हुए भी गुण और गुणी कृत भिन्नता भी है। वेद ज्ञान गुण है, जीवात्मा द्रव्य (गुणी) हैं। जिस प्रकार वेद ज्ञान परमात्मा में समवाय-सम्बन्ध से रहता है वैसे जीवात्मा नहीं रहते। दूसरी मुख्य बात यह भी है कि यदि परमेश्वर से जीवों की उत्पत्ति मानी जाये तो उनकी नियत्व हानि हो जायेगी, जबकि जीवात्मा नित्य हैं।

यह जो आपने कहा कि "सब शब्द, सब अर्थ, सब सम्बन्ध पूर्ण विद्यायुक्त परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए या वेदों से सम्पन्न हुए ? पहला पक्ष ठीक नहीं प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से, क्योंकि अनेक शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध उन-उन कारणों से उत्पन्न होते हैं, परमेश्वर से नहीं। दूसरा पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि इस प्रकार मानने से परमेश्वर में पूर्ण विद्यावत्त्व का व्याघात हो जायेगा लौकिक अर्थ और सम्बन्ध की वैदिक शब्द आदि से भिन्नता मानने पर 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थ' (११२१४०) इस मीमांसा के न्याय से विरोध भी होगा"।

आपका वह कथन तर्क-शास्त्र विरुद्ध प्रजल्पन मात्र है, इसलिए यह उक्ति

यतो हि पूर्ण-विद्यावतः परमेश्वराद् उत्पन्ना वैदिकाः नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः यथा सन्ति न तथा अस्मदादीच्छाज्ञान-प्रयत्नजन्याः लौकिकाः। भवन्मतेन यदि परमेश्वरः घटपटादिपदार्थान् नोत्पादयति तदा तस्य पूर्णविद्यावत्त्वस्य विघातो भवति। तदेतदपार्थकम्। तस्य पूर्ण-विद्यावत्त्वस्य नित्य-शब्दार्थ-सम्बन्धवतां वेदानां प्रकाशने सदुपयोगात्।

किञ्च भवन्निर्दिष्टम् अविशिष्टेत्यादि जैमिनि सूत्रं (१।२।४०) संव्याकमस्ति, न तु (१।२।३०) संख्याकम्। यच्च भवान् जैमिनीय-सूत्रेण न्यायविरोधं प्रतिपादयतीति महदाश्चर्यम्।

भोः मीमांसकमन्य! 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः इति मीमांसासूत्र-प्रदर्शनस्य किमिदं तात्पर्यं मनुते भवान् यद् यस्य शब्दस्य लोके योऽर्थः स एव अर्थस्तस्य शब्दस्य वेदेऽपि भवति। यद्येवं न तद्युक्तं, लोके तु अपशब्दैरपि स्वाभिप्रायप्रकाशनं जायते, क्वचित् प्रकृति-प्रत्ययाऽपरिज्ञानेऽपि अव्युत्पत्ति-पक्षे तदर्थः सम्भवति, परं नैवं वेदे।

घटित होती है कि "भगवान ने गाल दिये, तो जो मन में आये बोलते रहो। यदि हरड़ को दस हाथ लम्बा बताओ, तो तुम्हें कोई रोक नहीं सकता।

प्रजल्पकजी, 'यहां पर आपका वैदिकाः वा' यह विकल्प निरर्थक है पूर्ण-विद्य परमेश्वर से उत्पन्न शब्द, अर्थ और सम्बन्ध वैदिक ही हैं। परन्तु हम लोगों के अनित्य इच्छा ज्ञान प्रयत्नादि से समुत्पन्न होने के कारण वैसे नहीं। आपके मत की 'यदि परमेश्वर जब घट-पटादि पदार्थों को उत्पन्न नहीं करेगा तो उसके पूर्णविद्यावत्त्व का विघात हो जायेगा' यह बात सर्वथा असंगत है। पूर्ण-विद्यावत्त्व का उपयोग नित्य शब्दार्थ सम्बन्ध वाले वेदों के प्रकाशन करने में है।

प्रथम तो आपकी बताई जैमिनि सूत्र सं० (व्या० १।२।३०) अशुद्ध है यह (१।२।४०) शुद्ध है। दूसरे, इस जैमिनि सूत्र से अपने न्याय विरोध को प्रति-पादन किया है, यह महान् आश्चर्य हैं। ओ मीमांसकाभिमानी। आप इस मीमांसा सूत्र का अर्थ का अनर्थ कर रहे हो। क्या आपका इससे यह तात्पर्य है कि जिस शब्द का लोक में जो अर्थ होता है, वेद में भी वही अर्थ होगा, तो ठीक नहीं, लोक में तो अपशब्दों से भी अभिप्राय का प्रकाशन हो जाता है, परन्तु वेद में नहीं। लोक में प्रकृति, प्रत्यय के जानने पर भी अव्युत्पत्ति पक्ष में

अव्युत्पन्नरूढि-पक्षमाश्रित्य नाम-साम्यं च दृष्ट्वा भवादृशैरेव वेदेषु अनित्यैतिहासिकः पक्षः समुद्भाव्यते, यश्च महानन्र्थकरः। अस्तु।

जैमिनीयसूत्रस्य अयमस्ति वास्तविकार्थः यस्त्रोटयित्वा भवता अन्यथा व्याख्यातः तत्र हि दर्शनेऽयं प्रसङ्गः यद् वेद-मन्त्राणां पठन-पाठन-मात्रमेव पुण्यकृद् उताहो सार्थकः स्वाध्यायः ? स तदा समाधत्ते 'तदर्थशास्त्रात्' (जै० १।२।३१) अयं भावो यदर्थसहित एव स्वाध्यायः कार्यः। तदग्रे अविद्यमानादिकारणैः वेदानां स्वाध्यायो न कर्त्तव्य इति पूर्वपक्षः समुद्भावितस्तदग्रे ग्रन्थकारः समाधत्ते 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः (१।२।४०) तदस्य सूत्रस्य तत्राऽयमेवार्थो यद् यथा लोके समस्तग्रन्थानामध्ययनमध्यायनं च सार्थकमेव लाभ-प्रदं भवति तथैव वेदेऽपि वाक्यानामध्ययनमध्यापनं च सार्थकमेव कर्त्तव्यं, यतो लोके वेदे च वाक्यार्थ-ज्ञानं समानरीत्यैव भवति अर्थात् यथा लोके यौगिक-शब्दानाम् अर्थज्ञानं प्रकृति-प्रत्ययावयव-बोधेन भवति तथा वेदेऽपि। एतच्च शाबरभाष्ये समर्थितम्। तदेवं लौकिक-शब्दार्थ-सम्बन्ध-ज्ञानवतां वैदिक-शब्दार्थ-सम्बन्धावबोधाच्चेति यदुक्तं, तत्प्रलपनमात्रमेव।

अर्थ हो जाता है, परन्तु वैसा वेद में नहीं। वेद के अव्युत्पत्ति-रुढ़िपक्ष को लेकर ही आप सरीखे लोगों ने नित्य वेदों में अनित्य-इतिहासदि-पक्ष उद्भावित करके अनर्थ उत्पन्न कर दिए हैं।

उक्त जैमिनि सूत्र का यथार्थ इस प्रकार है, जो आपने तोड़ मरोड़कर अन्यथा कर दिया है। देखिए वहां पहले से यह प्रसङ्ग है कि वेद मंत्रों का अर्थ-हीन पठन-पाठन पुण्यकारी होता है या सार्थक ? उसका समाधान दिया 'तदर्थ-शास्त्रात् (जै0 १।३।३१) अर्थात् अर्थसहित ही वेदों का स्वाध्वाय करना चाहिए। उसके बाद फिर पूर्वपक्ष उठाया कि अविद्यमान, अचेतन, और विरु-द्धार्थ आदि कारणों से वेदों का स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। फिर उसका समाधान दिया 'अविशिष्टस्तु' इत्यादि, इस सूत्र का तब यही अर्थ है कि जैसे लोक में सम्पूर्ण ग्रन्थ अर्थ-सहित पठित पाठित लाभकारी होते हैं वैसे सार्थक पठित वेद भी, अन्यथा नहीं क्योंकि लोक में और वेद में वाक्यार्थ ज्ञान समान-रीति से होता है अर्थात् लोक में जैसे प्रकृति प्रत्यय के विभाग से यौगिक

भवता वेदोत्पत्तिः पूर्वं ब्रह्म-द्वारा प्रतिपादिता सम्प्रति अग्न्यादि द्वारा स्वीकृता यथा हि :—'परमेश्वरेणाग्न्यादिषु वेदानाविर्भाव्य सम्प्रदायः प्रवर्तित' इति । तदेवमनिर्णीतासिद्धान्तो भवान् संशयाटव्यामटति । अग्न्यादिषु वेदाविर्भावं तु मन्वानः दयानन्दीय-मेवमतमनुसरति । तदेवं च स्वपूर्व-प्रतिज्ञातार्थत्यागेन प्रतिज्ञाहानि-प्रतिज्ञान्तर-नाम-निग्रह-स्थानयोः निगडितः ।

किञ्च यः स्वपौर्वापर्य-विरोधमपि न प्रत्यभिजानन् विद्यमान-रागद्वेषासूयोपनिबद्धानेक-हृदय-ग्रन्थिः अकारणमनाधारं च पराक्षेप-परायणः, कथमसौ धानुकमहाभागस्य समर्पणसमर्पितार्चनाभाव-कुसुमानां भाजनं भवितुमर्हति, यथा चोक्तं धानुकमहाभागेन स्वसमर्पणवाक्ये "श्री स्वामि महाराजस्य तपश्चरणद्वारा हृदय-ग्रन्थिभेदनात् समस्त-ज्ञान-विज्ञानं करामलकवत् भासितमास्ते' इति । तदेतत् सर्वं धानुकोक्तमसङ्गतमेव ।

(पृ० ५-१०) यदुक्तं वेदानां नित्यत्व-श्रवणाद् वेदानामुत्पत्ति

शब्दों का अर्थ-ज्ञान होता है उसी प्रकार वेद में भी । इस सूत्र के शाबर भाष्य में भी यही तात्पर्य है ।

महाराज, आपने वेदोपत्ति पहले तो ब्रह्मा से मानी, अब अग्नि वायु आदि ऋषियों के द्वारा मान ली । इस प्रकार आप स्वयं में संशयात्मा हैं । अनिर्णीति सिद्धान्त वाले आप दोनों नौकाओं में पैर रखे हैं जो बहुत खतरनाक है आपने तो अग्नि आदि के द्वारा वेदों के आविर्भाव को मानकर दयान्दीय मत का अनुसरण कर लिया, और इस प्रकार आप स्वप्रतिज्ञा-हानि और फिर प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रह स्थान में निगडित हो गये ।

भला जो अपने पौर्वापर्यविरोध को भी स्मरण न करता हुआ, राग द्वेष असूयादि से उपनिबद्ध अनेक हृदय ग्रन्थि वाला व्यक्ति दूसरों पर अकारण और निराधार आक्षेप करता है, वह धानुका जी के श्रद्धा-सुमनों का पात्र कैसे हो सकता है ? जैसे कि धानुका जी ने अपने समर्पण-वाक्य में करपात्री जी को सम्बोधित करते हुए कहा है कि स्वामी जी महाराज (करपात्री जी) को तपश्चरण के द्वारा समस्त हृदयग्रन्थियों के भेदन से, समस्त ज्ञान विज्ञान हस्तामलकवत् भासित हैं ।" अतः यह कथन असंगत है ।

(पृ. ५१०) पर जो आपने कहा कि "वेदों की नित्यता होने से उनके

कालस्यैवाऽभावादिति" तदपि न विचारचारु । यथा हि गुरौ ज्ञानं तिष्ठति परं यस्मात्कालात् स कक्षामुपेत्य शिष्येषु तज्जानं पाठनेन प्रकाशयति तस्मादेव कालात् तज्ज्ञानस्य प्रकाशनमुत्पत्तिर्वा मन्यते लोके, तथैव सृष्ट्यादौ परमात्मना स्वानुग्रहेण वेदाः ऋषिषु प्रकाशिताः प्रादुर्भाविताः वा, स एव च वेदोत्पत्तिकालः । नहि प्रकाशनात्तेषां नित्यत्व-हानिः । यथा च नित्यजीवात्मा नित्यपरमात्मनः यस्मिन्काले नित्यानन्दमनुभवति, तस्यानन्दस्य स एव कालः तदुत्पत्तिकालः परिगण्यते न च तेनाऽऽनन्दस्य नित्यत्वहानिः । अतो वेदानां नित्यत्वे तत्प्रादुर्भावे न काचित् दोषापत्तिः । प्रत्युत भवद्-वाक्ये वेदानामिति शब्दस्य द्विः-पठने तु दोषापत्तिरेव, द्वितीयवारं वेद-स्थाने पूर्वपरामर्शकस्य तेषामिति शब्दस्यैव सुवचत्वात् ।

यदप्युक्तं 'वर्त्तमान कल्पसृष्टि-काल-गणनाप्यशुद्धैवेति' तदिद-मशुद्ध-कथनं तु यतेर्भवतो विशुद्ध-मतेरभावादेव । यतो हि न भूमि-कायामृषिणा क्वापि सप्त-सन्धीनां कालः समाख्यातः, टिप्पणी लेखने

उत्पत्ति-काल का ही अभाव हो जायेगा" वह भी अविचारित है । जैसे कि गुरु में उसका अपना ज्ञान रहता है, पर वह जिस समय कक्षा में जाकर अपने ज्ञान को शिष्यों में प्रकाशित करता है उसी समय से उस ज्ञान का प्रकाशन लोक में माना जाता है । उसी प्रकार सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अनुग्रह से अग्नि आदि ऋषियों में वेद प्रकाशित किए । तभी से उनका उत्पत्ति-काल अथवा प्रकाशन काल माना जाता है । वेदों के प्रकाशन से परमात्मा के नित्यज्ञान की हानि कैसे हो गई ? अर्थात् कथमपि नहीं हुई, और भी इसी प्रकार देखिये, जिस काल से नित्य-जीवात्मा को परमात्मा के नित्यानन्द की अनुभूति होती है, वही काल उस आनन्दोत्पत्ति का काल माना जाता है और जीवात्मा के द्वारा उस आनन्द की अनुभूति से परमात्मा के नित्यानन्द में कोई क्षति नहीं होती । अतः इस प्रकार नित्य परमात्मा से वेदोत्पति मानने से कोई दोषापत्ति नहीं । हाँ आपके वाक्य में 'वेदानां' शब्द के दुबारा पढ़ने में अवश्य ही दोषा-पत्ति है । दूसरे बक्यांश में 'वेदाना' के स्थान पर उसके पूर्व-परामर्शक 'तेषां' शब्द का प्रयोग ही समीचीन एवं सुवच है ।

यह कथन कि "भूमिका में वर्त्तमान कल्प-सृष्टि काल की गणना भी अशुद्ध है" ठीक नहीं, आपको विशुद्ध-मति के अभाव के कारण यह काल गणना अशुद्ध

दायित्वं तु टिप्पणीकारस्यैव न मूललेखकस्य । किञ्च महर्षिभाष्य-भूमिकायां काल-गणना-परिगणने नैकस्याप्यङ्कस्य क्वचिदपि त्रुटिः, प्रत्युत भवत्सम्प्रदाय-प्रवर्तितेषु वर्त्तमान-पञ्चाङ्गेषु सृष्टि-काल गणनायां तु त्रुटिरेव, यतो हि सा गणना समुपलब्ध-मयासुर-रचि-तज्यौतिष-ग्रन्थमपि नानुसरति ।

अथवा कथं न भवादृशां वेदान्त-मतानुयायिनां भ्रमि-विभ्रमः स्याद् ये ब्रह्मणि संसारसत्ताया एव भ्रमं बिभ्रति ? वेदान्ति-मत-खण्डकस्य महर्षेर्भाष्य-भूमिकायाः कालगणना तु वसिष्ठादि-मुनि-ग्रन्थ-सम्मता महर्षि मन्वादि-समर्थिता च । अतो न तत्र शङ्काक्लेशलेशस्य सम्भवः ।

ननु भवादृशैः वर्त्तमाने १९८१ तमे ईसाब्दे सृष्टिकालस्य १,९५,५८,८५,०८१ गताब्दाः 'प्रदर्शिताः कथं न ते एव प्रामाण्य-मावहेयुरिति चेन्न, सृष्टि-संवत्सर शास्त्रानभिज्ञैस्तत्संख्याऽऽकलनात् ।

लगी । वास्तव में अशुद्ध नहीं है, क्योंकि महर्षि ने भूमिका में सात सन्धियों के काल की कहीं गिन्ती नहीं की । टिप्पणी लेखन का दायित्व तो टिप्पणी-कार का ही है ऋषि का नहीं ।

महर्षि का भाष्य-भूमिका में काल गणनागत कहीं कोई त्रुटि नहीं, प्रत्युत आपके सम्प्रदाय प्रवर्तित वर्त्तमान पचाङ्गों में सृष्टिकाल गणना में तो त्रुटि अवश्य है, क्योंकि वह सृष्टि सम्वत् आपके मयासुर रचित ज्योतिष् शास्त्र के अनुकूल नहीं है। अथवा आप जैसों को तो त्रुटि न होने पर भी त्रुटि का भ्रम संभव ही है, क्योंकि भवादृश नवीन वेदान्ती ब्रह्म में भी संसार की सत्ता को भ्रम ही मानते हैं, जबकि संसार की सत्ता वस्तुतः पृथक् है ।

अतः वेदान्तिमत खण्डक महर्षि दयानन्द की भूमिका में त्रुटि का भ्रम मिथ्या है । भूमिका-गत काल-गणना वसिष्ठादि मुनि-ग्रन्थ-सम्मत तथा महर्षि मन्वादि रचित स्मृति-समर्थित है, फलतः उसमें शङ्कावकाश सम्भव नहीं ।

यदि यह कहा जाय कि आप जैसों ने इस वर्ष सन् १९८१ ई० सृष्टि सम्वत् १,९५,५८,८५०८१ दिखाया है उसी को क्यों न ठीक मान लिया जाय, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यह गिनती प्रामाणिक शास्त्रज्ञों के द्वारा नहीं की गई है ।

यच्चोक्तं 'के मनवः ? कथं मन्वन्तर-संज्ञाः ? कथं च ते चतुर्दश-संख्याकाः ? स्वायम्भुवादि संज्ञाः किंमूलाः ? मन्वादिकल्पनाश्रणात् तन्मूलस्येतिहासपुराणस्योपेक्षणं चेत्यर्धकुटी न्यायानुसरणमेव" इति !

इहोच्यते महर्षिणा लिखितं यद् 'यत्सत्यं वेदात् प्रसिद्धं क्वाप्यन्यत्र गतं तत्प्रमाणमन्यदप्रमाणम्' इत्यनुरुध्य पुराणादिषु नवीनेषु चाऽपि ग्रन्थेषु सत्यग्रन्थेभ्यो यत्सत्यं गृहीतं, तदेव ग्राह्यम् । याश्च अनृताः सृष्टिक्रम-विरुद्धाः कपोल-कल्पनाः कृताः तास्तु न कथमपि ग्राह्याः, परं नैतस्याभिप्रायोयत् पुराणेष्वेव लिखितमेतद् मन्वादिवर्णनं, नान्य-त्रेति, मनुस्मृति-सूर्यसिद्धान्तादौ तत्समुपलम्भात् । मन्वन्तर-संज्ञाः कथं जाता इत्यस्योत्तरे ऋषिलेख एव दृष्टव्यः । यथा हिः—'मन्वन्तर-पर्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिक-गुणानामपि पर्यावर्त्तनं किञ्चित्किञ्चिद् भवतीत्यतो मन्वन्तर-संज्ञा क्रियते' । स्वायम्भुवादि-संज्ञा-मूलत्वे तु मनुः स्वयमाह :—'स्वायम्भुवस्य च मनोः षड्वंश्याः मनवोऽपरे ।'

यह जो कहा कि "मनु कौन है ? मन्वन्तर क्यों हैं ? वे संख्या में १४ क्यों हैं ? स्वायम्भुवादि नामकरण का मूलाधार क्या है ? मनु आदि की तो कल्पनाओं का आश्रय ले लेना और उनके मूलभूत पुराण इतिहास आदि की उपेक्षा कर देना, आधा तीतर आधी बटेर वाली कहावत की याद दिलाता है ।

इस (प्रसङ्ग) प्रकरण का महर्षि ने मूल-समाधान लिखा है कि 'जो सत्य वेदों से प्रसिद्ध है, परन्तु अन्यत्र चला गया है । वह प्रमाण के योग्य है और उसके अतिरिक्त सब अप्रमाण है' इस बात को ध्यान में रखते हुए अग्नि आदि पुराणों में अथवा अन्य नवीन ग्रन्थों में वेदादि सत्य ग्रन्थों से जो सत्य ग्रहण किया है, वही ग्राह्य है। जो झूठी बातें सृष्टि क्रम के विरुद्ध है, कपोल-कल्पित हैं, वे किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं । परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि मनु, मन्वन्तर आदि का वर्णन पुराणों में ही लिखा है । सूर्य सिद्धान्त आदि ग्रन्थों में भी वह लिखा मिलता है । मन्वन्तर संज्ञायें किस प्रकार हुईं इस विषय में ऋषि लेख देखना चाहिये । जैसे किः—मन्वन्तर की पर्यावृत्ति में सृष्टि के नैमित्तिक गुणों में कुछ-कुछ पर्यावर्त्तन होता है, इसी लिये मन्वन्तर संज्ञायें की जाती हैं । स्वायम्भुव आदि संज्ञाओं के होने में तो मनु ने स्वयं कहा हैः—

'स्वायम्भुवस्य षड्वंश्याः इत्यादि अर्थात् स्वायम्भुव मनु के छह दूसरे

मनूनां च स्वायम्भुवादिसंज्ञास्तु इतिहासमूला एव। यथा स्वयम्भुवोऽपत्यं (स्वयंभू+अण्) स्वायम्भुवः (संज्ञा-पूर्वक-विधेरनित्यत्वान्न गुणः)। सच प्रथमो मनुः। स्वरोचिषोऽपत्यं स्वारोचिषो द्वितीयो मनुः। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। तदेवं मनु-मन्वन्तराहोरात्रादीनां याः निर्भ्रान्त-कल्पनाः तास्तु आर्षग्रन्थेभ्य एव अनार्षग्रन्थेषु अनुकृताः। आर्ष-ग्रन्थाश्च वेदोपलब्ध-बीजाङ्कुर-पल्लवा एव। यथा च अथर्ववेदे कल्प-गणना-बीजम्, 'शतं च तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि-कृण्मः इति, (अथर्व० ८।२।२१) अर्थात् दशसहस्रशताब्दद्वित्रिचतुर्विन्यासः कल्पः। किञ्चैतस्याः कालगणनायाः अपि मूलं वेदे यथा :—

कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेस्य।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा, कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र।
(अथर्व० १०।७।९)

अर्थाद् भूतभविष्यत्कालरूपं गृहमेकं सहस्र-स्कम्भेषु धृतम्।
अत्रालंकाररूपेण कल्पस्यैकसहस्र-युगानां वर्णनं वर्त्तते॥

और वंश हुये थे।

मनुओं की स्वायम्भुव आदि संज्ञायें तो इतिहास-मूलक ही हैं जैसे कि:—स्वयम्भुवोऽपत्यं स्वयम्भू+अण् स्वायम्भुवः (संज्ञापूर्वक विधि के अनित्य होने से गुण नहीं हुआ)। वही प्रथम मनु हुआ। 'स्वरोचिषोऽपत्यं स्वारोचिषो' द्वितीय मनु हुये। इसी प्रकार अन्य नाम भी समझने चाहिये।

मनु मन्वन्तर अहोरात्र आदि जितनी भी निर्भ्रान्त कल्पनायें हैं, वे सब अनार्ष ग्रन्थों में भी मूल आर्ष ग्रन्थों से ही नकल कर ली गई हैं। और वे आर्ष ग्रन्थ वेदों में समुपलब्ध मूल बीजों के अंकुर और पल्लव आदि ही हैं। जैसेः—अथर्व वेद में कल्प गणना का बीज इस प्रकार है:—शतं च तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः' (अथर्व ८।२।२१)। अङ्कन्यास बांई ओर से होता है अतः ४३२ इसके बाद दश सहस्र सौ अर्थात् सात शून्य रखकर कल्पगणना होती है। इस काल गणना का मूल अन्यत्र भी वेद में है जैसेः—कियता स्कम्भः इत्यादि (अथर्व १०।७।९)। अर्थात् भूत भविष्यत्काल रूप एक घर है, वह एक सहस्र खम्भे पर रक्खा हुआ है, यहाँ अलंकार रूप से एक सहस्र चतुर्युग ही खम्बे हैं।

यदुक्तं "नित्यवेदस्योत्पत्तिकाल एव न सम्भवति" तत् समाधानं, वेदज्ञानमपि प्रभुणा सृष्ट्यादौ एव प्रादायि मनुष्याय। अतो मनुष्योत्पत्त्यनन्तर मेव वेदानां प्रादुर्भावकालः। न खलु महर्षि-दयानन्दो महदाद्युत्पत्तेः प्राग् अग्न्यादीनामुत्पत्तिं क्वाऽप्यवर्णयत् भवांस्तु निराधारमेव तमाक्षिपति। स चाऽयं वेदोत्पत्ति-कालः पाश्चात्य-विपश्चित्सम्मत-नवीनवेदोत्पत्ति-काल-निरासाय प्रस्तुतीकृतः। यथा लिखितं 'भूमिकायां' हिन्दीभाषायाम् :—'क्योंकि आर्यलोग...... बहीखाते की नाईं (सृष्टि संवत् को) लिखते लिखाते पढ़ते पढ़ाते चले आये हैं' इत्यादि।

यच्चोक्तं "मानवातिरिक्त-देवतामनङ्गीकुर्वाणस्य 'देवानां युगमुच्यते' (त० १।७१) इति वचनस्यार्थोऽपि गगनकुसुमायते" इति। तदेषा शङ्काऽपि महर्षिप्रोक्तदेवानां द्विविधभेदाऽनवगमनादेव। यतोहि महर्षिणा द्विविधाः देवाः वर्णिताः चेतनाः देवाः विद्वांसः जडास्तु सूर्यादयो मताः। मानुषं दैवं च युगमित्यत्र तु परिगणनाय

यह कथन कि नित्य वेद का उत्पत्ति-काल ही सम्भव नहीं है, ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा ने वेद-ज्ञान मनुष्यों के लिये सृष्टि के आदि में दिया, अतः मनुष्य की उत्पत्ति के अनन्तर ही वेदों का प्रादुर्भाव काल है। महर्षि-दयानन्द ने कहीं पर भी महदादि की उत्पत्ति से पूर्व मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन नहीं किया है। आप तो निराधार ही आक्षेप कर बैठते हो। 'ऋषि दयानन्द ने यह वेदोत्पत्ति काल पाश्चात्य विद्वानों के नवीन वेदोत्पत्ति काल के खण्डन के लिये प्रस्तुत किया है। ऋषि ने भूमिका में हिन्दी भाषा में लिखा है। "क्योंकि आर्य लोग··· बहीखाते की न्याईं (सृष्टि सम्वत् को) लिखते-लिखाते पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं" इत्यादि तथा च आर्यों ने प्रथम क्षण से लेकर प्रतिदिन का परिगणन किया है जो आर्यों द्वारा संकल्प में बोला जाता है।

यह कहना कि "मानवों से अतिरिक्त देवताओं का युग (मनु आदि ने) स्वीकार किया है, फलतः इस कथन का अर्थ भी आकाशपुष्प के समान हो जायेगा।" ठीक नहीं।

यह आपकी शंका महर्षिद्वारा बताये गये दो प्रकार के देवताओं के न समझने के कारण है। ऋषि ने चेतन और अचितन दो प्रकार के देवता माने हैं। विद्वान् लोग चेतन देवता हैं और सूर्यादि जड़ देवता हैं। कालगणना के प्रसङ्ग

संज्ञामात्रमिष्यते। यथा च मनुष्याद् विशिष्टज्ञानादिना देव-कोटि-रुत्कृष्टा तथैवाऽत्रापि। मानुषं युगं तु चतुर्युगरूपं बोध्यं परं दैवं युगन्तु एतस्मात्द्वादश-गुण-साहस्रमुत्कृष्टं मन्यते। देवादिसंज्ञा विषयमधिकृत्य कुल्लूकभट्ट आह—देवानानामहः तत्र प्रायेण दैव-कर्मणामनुष्ठानमिति। तदेवं दैवं दिनं दैवं युगमित्यादि प्रयोगे संज्ञा-मात्रमिष्यते। न तत्र कश्चन चेतन-देवविशेषः अभिप्रेतः। अतः एतस्य देवादि-शब्दस्य भेदप्रतिपादक-मात्रत्वान्न तदर्थो गगन-कुसुमायते इति बोध्यम्।

यदुक्तं "दयानन्दमते दैव-युगानुसारेण गणाना नोपपद्यते" इति। तद्भवता नाऽत्र काचिदनुपपन्नता, दर्शिता एषा तु लेखकस्यैव कथनस्य ऽनुपपन्नता, यतो हि दैव-युगानुसारमपि ऋषि-निर्दिष्टा संख्या सर्वथोपपद्यते। तच्च प्रकरणं तत्रैव द्रष्टुमर्हम्। इयं च करपात्रिणः अपरा भ्रान्तिर्यत् मनु-मन्वन्तरादिगणना पुराणेतिहासोपोद्वलिते ति। इयंहि ज्यौतिष-शास्त्रमनुसृत्य प्रवर्त्तिता, यतोहि तिथिग्रह-नक्षत्रा-दीनां बोधो ज्यौतिष-शास्त्र-गणितेनैव जायते।

में दो प्रकार से गणना की गई है मनुष्य के नाम से तथा दैव के नाम से। मानुष युग और दैव युग इस स्थल पर परिगणन के लिये संज्ञामात्र अभीष्ट है आपके अभीष्ट देवता नहीं।

दैवादि संज्ञा के विषय में मनु के टीकाकार कुल्लूकभट्ट यह कहते हैं कि देवा-नामहःतत्र प्रायेण दैवकर्मणामनुष्ठानमिति। इस प्रकार दैव दिन या दैवयुग आदि प्रयोगों में संज्ञायामात्र ही अभीष्ट है। कोई चेतन देव विशेष नहीं। अतः मानुष देवादि शब्दों के भेद प्रतिपादक होने से उनका अर्थ आकाशपुष्प के समान निराधार नहीं।

यह कहना कि दयानन्द के मत में दैव युगानुसार गणना नहीं बनती यहाँ आपने कोई अनुपपन्नता तो दिखाई नहीं वरन् लेखक के कथन की ही अनुपन्नता है, क्योंकि ऋषि ने तो दैव-युगों के अनुसार भी काल गणना निर्दिष्ट की है। जो वहीं देखनी चाहिये।

---

१ कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञा क्रियन्ते' इति 'च भूमिका'।

यच्चोक्तं न क्वचिदपि त्वदभिमतेषु वेदेषु वेदकालो निदिष्टः न च सृष्ट्यादौ तदुत्पत्तिः वेदेन साधयितुं शक्येति।' न तद्युक्तम्, सर्व-ज्ञानमयोहि सः इति मनुवचनमनुरुध्य वेदानामपि सर्व-विद्याऽऽक-रत्वात्। तदत्राबधेयं यन्नेयं गणना पुराणेतिहासानुसारं, मनुस्मृत्या-दीनां वेदमूलकतया इयं गणाना वैदिकी एव।

'सङ्कल्पोऽपि न सामाजिकेषु प्रचलति, इत्यधिक्षिपता भवता महान् अनर्थः कृतः यतोहि स्पष्टमेव तत्रैवोल्लिखितं यथा :—'आर्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य परिगणनं कृतं तदार्यैः प्रतिदिनं (सङ्कल्पः) उच्चार्यते। तदेवं परमोदारः ऋषिर्भवतः समानपि (सङ्कल्पं, वाचयतः) आर्येषु परिगणयति। अपि च 'तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टामित्यारभ्य सृष्टिस्थिति' यावद् वेद-ज्ञानस्य अक्षुण्णाऽऽलोकः स्थास्यति, वेदवाणी च यथोच्यते 'ऋषिषु प्रविष्टेति', स एव वेदोत्पत्ति-कालः मन्यते।

किञ्च यदुच्यते 'न सृस्ट्यादौ तदुत्पत्तिरपि वेदेन साधयितुं

करपात्री जी की यह एक और भ्रान्ति है कि मनु मन्वन्तर आदि की गणना पुराण और इतिहास से उपोद्बलित है। यहाँ यह ध्यानदेने की बात है कि यह गणना पुराण और इतिहास के अनुसार नहीं, प्रत्युत ज्योतिष शास्त्र के आधार पर प्रवर्तित हुई हैं; क्योंकि तिथि, ग्रह, नक्षत्र आदि का बोध ज्यौतिष शास्त्र से ही होता है।

'वेदों में वेद काल कहीं भी निर्दिष्ट नहीं और न वेदों से सृष्टि के आदि में उनकी उत्पत्ति का ही वर्णन ही सिद्ध किया जा सकता है।" यह कथन भी सर्वथा अनुपयुक्त है।

'सर्वज्ञानमयो हि स' इस मनुवचन के अनुसार वेदों को सब विद्याओं का भण्डार माना गया है। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के वेद-मूलक होने से यह गणना भी वैदिक ही है।

'सामाजिकों में संकल्प भी नहीं चलता है, यह आक्षेप करके आपने महान् अनर्थ किया है, क्योंकि ऋषि ने उसी प्रसङ्ग में स्पष्ट लिखा है कि आर्यों ने क्षण से आरम्भ करके कल्पपर्यन्त की गिनती की है। वह प्रतिदिन आर्यों के द्वारा संकल्प में उच्चारण की जाती है।

शक्यते' इति । तदेतेन किं भवतामेषोऽभिप्रायो यद् विना शरीरधारिणं जीवं परमाणु-प्रथमसर्जन-संक्षोभ-काले वेदोत्पत्तिः ख्यापनीयेति ? तन्न, सृष्ट्यादौ इत्यस्यायमाशयः यदस्याः सृष्टे आदौ एव यदा ज्ञानाधार-पात्राणां जीवानां शरीरग्रहणमभूत् तदैव तेषु अमैथुन सृष्टि-रचितेष ऋषिषु वेद-प्रादुर्भूतिरभूत्' ।

यदि भवत्तोषायेदं मन्येत यन्न वेदेषु अस्याः सृष्टेः संकेतस्तदा वयं नैतन्मन्तुमर्हामः, यतोहि 'सर्व-ज्ञानमयो हि सः' इति मनु-शास्त्र विरोधः आपद्येत ।

किञ्च विबुधाः निभालयन्तु तावदस्य करपात्रस्य कुमति-कौटिल्यं यदयं 'सृष्ट्चादौ' इत्यस्य पदस्य सृष्टेः प्राग् इत्यर्थं विधत्ते । भोः कर-पात्रिन् । यदि तावदादि-शब्दस्य अर्थः 'प्राग्' भवति तदा तु 'वेदार्थ-पारिजातादौ श्लोकाः लिखिताः' इत्यस्य अयमर्थः संपत्स्यते यद्

इस प्रकार परमोदार ऋषि ने संकल्प वाचने वाले आप सरीखों की आर्यों में परिगणना की है । 'तामन्वविन्दन्' ऋषिषु प्रविष्टा' इससे प्रारम्भ करके सृष्टि की स्थिति तक वेद ज्ञान का प्रकाश स्थिर रहेगा । और इसी ऋषिषु प्रविष्टां से वेदोत्पत्ति काल माना जाता है ।

सृष्टि के आदि में वेदों की उत्पत्ति वेदों से सिद्ध नहीं की जा सकती' इस कथन से क्या आपका यह अभिप्राय है कि बिना शरीर धारी जीव के परमाणु के प्रथम-सृष्टि के संक्षोभ-काल में वेदोंत्पत्ति कहनी चाहिये थी ? सृष्टि के आदि में इस शब्द का आशय यह है कि इस सृष्टि में आदि में ही जब ज्ञाना-धार-पात्र जीवों का शरीर ग्रहण हुआ, उसी समय अमैथुनी सृष्टि-रचित ऋषियों में वेदों का प्रादुर्भाव हुआ ।

आपके सन्तोष के लिये भी यह नहीं माना जा सकता कि वेदों में इसका संकेत नहीं, क्योंकि सर्वज्ञानमयोहिस; इस मनूवित से विरोध उत्पन्न होगा ।

विद्वान् पुरुष जरा विचार करें कि यह करपात्र महोदय सृष्ट्चादौ' पद का अर्थ अपनी कुटिल मति से, सृष्टि के पहले' करते हैं । यदि 'आदि' का अर्थ पहले होता है, तो वेदार्थ-पारिजात के आदि में लिखित श्लोक' का अर्थ यह होगा कि वेदार्थ-पारिजात की रचना से पहले ये श्लोक लिखे गये' तो इसको

वेदार्थ-पारिजातस्य लेखनात् प्रागिमे श्लोकाः लिखिताइति'' परं नेतत् कोऽपि बुद्धि-संङ्गतमर्थं मंस्यते । तद्विरमाधुना विरुद्ध -कल्पनात् किञ्च महोदय ! मम तु निदवेनमिदमेव यत् : —

निरगमत् प्रग एव दिनान्तके, निववृते नहिभ्रान्त उदीर्यते ।
कुटिलतां त्यज भोः चरमायुषि, ऋषिवरानुचरो रुचिरोभव ।।

अपि चेह विरम्यते प्रपञ्चनाद् —

ऋग्वेदादि-श्रुतीनां विमलमतिमतां बह्निवाताद्यृषीणाम् ।
अन्तःस्थः सुप्रकाशं व्यधित विभुवरः सर्जनाऽऽरम्भ-काले ।।
वेदोत्पत्ते विचारं ह्यकृतमुनिवरो, भूमिकायां' निजायाम् ।
शङ्कानां सन्निरासः कृत इह मयका पारिजातोद्भवानाम् ।।१।।

तथा च

तरङ्गाघात - गर्त्तान्त-जीर्णे तुङ्गतरे यथा ।
कृततीर्थे हि कासारे प्रत्येकोऽवतरेन्नरः ।।२।।
वेदार्थ-पारिजाताब्धेस्तथा मत्तर्क-नौकया ।
विपश्चित्कश्चिदेकोऽपि पारं गन्तुमितोऽर्हति ।।३।।

कोई भी बुद्धिसंगत अर्थ न कहेगा । इस लिये महाराज ! अब तो बस करो विरुद्ध कल्पनायें बहुत हो लीं, मेरा तो आप से यही निवेदन है कि प्रभात का भटका हुआ यदि शाम को घर आ जाये, तो वह भटका नहीं कहलाता ।

अतः अब तो आप अपनी कुटिलता छोड़कर अन्तिम अवस्था में ऋषि दयानन्द के अनुयायी बन जाइये । इसलिये इस विषय में यहाँ इतना ही पर्याप्त है ।

विमल-बुद्धि वाले, अग्नि आदि ऋषियों के अन्तः करणों में सृष्टि के आदि काल में ऋग्वेदादि चारों श्रुतियों का प्रभु ने प्रकाश किया । स्वामी दयानन्द जी ने अपनी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में 'वेदोत्पत्ति' का विचार किया है उस पर वेदार्थ-पारिजात में उद्भावित सभी शंकाओं का मैंने यहाँ समाधान किया है ।

कोई भी विद्वान् इस वेदार्थ पारिजात रूपी समुद्र को मेरी तर्क रूपी नौका से उस प्रकार पार कर सकता है जैसे तरङ्गों के आघात से गर्त्तों वाले पुराने तट वाले तालाब में सीढ़िया बनाने वाला व्यक्ति बड़ी सुगमता से अवतरण कर सकता है ।। ४ ।।

अपि च

विद्वांसो मत्सरग्रस्ताः केचिन्मल्लेखदूषणे।
दर्शयिष्यन्ति पाण्डित्यं पूर्वकुण्ठित-बुद्धयः ॥४॥

परम्—

प्रकृततः प्रवणं श्रुति-रक्षणे
अपवदन्ति बुधाः स्खलितेऽपि नो।
सलिल-पिच्छिल-वर्त्मनि सञ्चलन्,
यदि बुधः स्खलति क्वचिदञ्जसा ॥५॥

इति गुरुवर विहारीलाल शास्त्रि-शिष्य श्रीमदाचार्य-विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीय-मतमण्डने वेदार्थ-कल्पद्रुमे वेदोत्पत्ति-विषयः सम्पूर्णः।

कुछ विद्वान् पुरुष जो मात्सर्य-ग्रस्त हैं, पहले से उत्तर देने में कुण्ठित बुद्धि हैं, अपना पाण्डित्य दिखाने के लिये मेरे लेख में दोष निकालेंगे।

किन्तु जो वास्तविक विद्वान् होते हैं वे श्रुति-रक्षणार्थ लगे हुये व्यक्ति के स्खलन में भी अपनी सहानुभूति प्रदान करते हैं बुरा नहीं कहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि जलवर्षण से चिकने हुये मार्ग में समझदार व्यक्ति भी फिसल जाते हैं ॥५॥

श्रीमद्-बिहारीलाल जी के शिष्य आचार्य विशुद्धानन्द 'मिश्र' विरचित, करपात्रिकृत वेदार्थ-पारिजातीय-मत खण्डन करने वाले और महर्षि दयानन्दमत मण्डन करने वाले, वेदार्थ-कल्पद्रुम का वेदोत्पत्ति-विषय-सम्पूर्ण हुआ।